द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका

(मुनिश्री नेमीचन्द्र रचित द्रव्यसंग्रह की सरल–सुबोध टीका)

लेखिका

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

बी.ए.ऑनर्स, एम.ए., पी.एच.डी. (स्वर्णपदक प्राप्त)

मो. 09321295265 / Email: dpptmumbai@gmail.com

मुंबई (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर – 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

E-mail : ptstjaipur67@gmail.com

द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका : डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

प्रथम संस्करण : 1000
(1 नवम्बर, 2023)

मूल्य : **30 रुपये**

परमागम ऑनर्स के 3, 4 व 5वें वर्ष के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक सप्रेम भेंट।
– श्रीमती प्रभा जी महनोत, अमेरिका

मुद्रक :
देशना एन्टरप्राईजेज
जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने में 3100/- रुपये, श्री महेश जे. पारेख, मुम्बई द्वारा सधन्यवाद प्राप्त हुए।

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका' की लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने पूत के लक्षण पालने में ही नज़र आ जाते हैं – कहावत को चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के पदचिन्हों पर ही चल रही हैं। उनके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 56 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं; जो आपकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण है। जैनदर्शन के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर आपकी लेखनी चली है।

साथ-ही-साथ आपने जैन सिद्धान्तों पर आधारित अनेक 'गेम्स' भी बनाए हैं, जिनके खेलने के नियम भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हैं। इन 'गेम्स' की विशेषता यह है कि इनको खेलने से बच्चों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ अहिंसात्मक आचरण की प्रवृत्ति भी सहज विकसित हो जाती है। इनमें जीत हिंसात्मक कार्य मार-पीट से नहीं, ज्ञान-ध्यान से हासिल की जाती है। बच्चों को ज्ञान-ध्यान करने की प्रेरणा मिलती है।

आपने 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। आपने अपने शोध ग्रन्थ में शोध समीकरणों (rules and regulations) को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और टीकाकारों का सर्वांगीण (सम्पूर्ण) विवेचन सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वत्जन और बुद्धिजीवी वर्ग के साथ-साथ जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट (attract) करता है। यही कारण है कि 'परमागम ऑनर्स' के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में यह पुस्तक शामिल की गई है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकें भी अद्यावधि (अब तक) जैन समाज में प्रचलित अन्य पाठ्यपुस्तकों से भिन्न शैली, रंगीन चित्रमय प्रस्तुति एवं मूल तत्वज्ञान के समावेश के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं।

आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेदज्ञान से ओतप्रोत हैं। आप विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में अध्यात्म को सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हैं।

गूढ़ से गूढ़ विषय को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने की कला में आप माहिर हैं। इसी सरलता की छाप आपकी प्रस्तुत टीका 'द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका' में भी दिखाई पड़ती है। यह टीका अनावश्यक विस्तार के बोझ से बोझिल नहीं है। विषयवस्तु को स्पष्ट करने के लिए जहाँ जितने नयों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, वहाँ अत्यंत संक्षेप में सरलता से उसे समझा दिया गया है। इसे पढ़कर सभी पाठक द्रव्यसंग्रह के हार्द को आसानी से समझ सकें इसी भावना से प्रस्तुत टीका का प्रकाशन किया जा रहा है। शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था के लिए डॉ. अखिल बंसलजी का बहुत आभार है।

विपिन जैन 'शास्त्री' मुम्बई
प्रकाशन मंत्री

हाल ही में अनेक छात्रों के अनुरोध के कारण और जिनवाणी की प्रभावना हेतु डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया अनेक व्यावहारिक विषयों को आधार बनाकर अत्यंत सरल और सटीक भाषा में जिनवाणी का मर्म समझाने हेतु अपने सोशल मीडिया अकाउंट का अवलंबन लिया है।

उनके द्वारा लिखे गए साहित्य का लाभ लेने हेतु नीचे दिए गए उनके सोशल मीडिया एकाउंट्स को फॉलो करें :

Facebook : https://www.facebook.com/d.shuddhatmprabha.taraiya

Instagram : https://www.instagram.com/shuddhatmprabha

Twitter : https://twitter.com/DrTaraiya

LinkedIn : https://www.linkedin.com/in/dr-shuddhatmprabha-taraiya-49b2b3212

YouTube : https://youtube.com/@vidwatratnadrshuddhatmprab4714

× × × × ×

परमागम ऑनर्स के अधिक जानकारी हेतु नीचे दिए गए वेबसाइट या फ़ोन नंबर पर contact करें :

www.practicaljainism.com   श्री अविनाश टड़ैया : 9221225264

अपनी बात

मुनि श्री नेमिचन्द्र द्वारा रचित 58 गाथाओं वाली द्रव्यसंग्रह अपनी संक्षिप्त महत्वपूर्ण विषयवस्तु के कारण जैन समाज में पाठशालाओं के अध्ययन-अध्यापन का विषय रही है।

'परमागम ऑनर्स' के कोर्स में भी यह पुस्तक शामिल है। उसी के सण्डे मॉर्निंग 2022 बैच के विद्यार्थियों के विशेष आग्रह पर उन्हें पढ़ाते-पढ़ाते ही यह पुस्तक मात्र 15 दिन में ही लिखी गई है। विद्यार्थी इसके संबंध में इतने उत्साहित थे कि एक विद्यार्थी 'बाल ब्रह्मचारी मंजु दीदी' ने इसके पदविच्छेद, शब्दार्थ टाईप करने की जवाबदारी ली व अन्य विद्यार्थी 'श्री भरत जैन' ने शेष व्याख्या टाईप की। इस तरह मैं टीका लिखती जाती, वे टाईप करते जाते और प्रति क्लास में पढ़ते जाते।

यद्यपि इस पुस्तक की व्याख्या में नयों की जानकारी जिस गाथा में जितनी आवश्यकता थी, उतनी ही दी गई है; तथापि पाठकों की नयों संबंधी जिज्ञासा भी सरलता से शांत हो, इस दृष्टि से अंत में नयों की अति संक्षिप्त जानकारी भी दी जा रही है।

इस टीका में ध्यान और परम-ध्यान के अंतर को विशेष तौर पर सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। सभी पाठक उससे लाभान्वित हो - इसी भावना से यह पुस्तक लिखी जा रही है।

यह सहज संयोग ही है कि आज ही मेरे ससुर श्री अभिनंदन कुमार जी टड़ैया की 112वीं जन्म जयंती है और आज ही प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन हेतु तैयार है। उनके जीवनकाल में वे हमेशा मुझे मेरे इस कार्य के लिए आशीर्वाद, प्रेरणा एवं सहयोग देते रहे थे। अतः अब मैं उन्हें स्मरण करते हुए यह कृति उन्हें सादर समर्पित करती हूँ।

- डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	गाथा नं.	पृष्ठ सं.
•	मुनि श्री नेमिचन्द्र		I
•	विषयवस्तु		II-XII
1.	मंगलाचरण	1	1-4
2.	जीव द्रव्य	2 से 14	5-34
3.	अजीव द्रव्य	15 से 27	35-53
	(i) पुद्गल द्रव्य	15-16	35-38
	(ii) धर्मद्रव्य	17	39
	(iii) अधर्मद्रव्य	18	40
	(iv) आकाशद्रव्य	19, 20	41-43
	(v) कालद्रव्य	21, 22	44-45
	(vi) पाँच अस्तिकाय	23 से 27	46-53
	(a) प्रदेश संख्या	25	48-49
	(b) परमाणु कायवान	26	50
	(c) प्रदेश	27	51-53
4.	जीव-अजीव के विशेष (साततत्त्व)	28 से 38	54-69
	(i) आस्रव	29 से 31	55-60
	(ii) बंध	32-33	61-62
	(iii) संवर	34-35	63-65
	(iv) निर्जरा	36	66
	(v) मोक्ष	37	67
	(vi) पुण्य और पाप	38	68-69
5.	मोक्ष के कारण	39 से 57	70-99
	निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग	39-45	70-77
	(i) निश्चय मोक्षमार्ग	40	71
	(ii) सम्यगदर्शन	41	72
	(iii) सम्यगज्ञान	42, 44	73-76
	(iv) सम्यक्चारित्र (व्यवहार चारित्र)	45	77
	(v) परम सम्यक् चारित्र	46-57	78-99
	(a) ध्यान	48 से 57	81-99
	(b) ध्यानपूर्व अवस्था	49	84-86
	(c) पंचपरमेष्ठी स्वरूप	50-54	87-92
	(d) शुक्ल ध्यान	55-57	93-99
6.	प्रशस्ति	58	100-101
•	द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद - डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल		106-109

द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका

मुनि श्री नेमिचन्द्र

जैन साहित्य में अधिकांश आचार्यों व मुनिराजों ने अनेक ग्रन्थ लिखे। उनके साहित्य से हम जितने परिचित हैं; उतने ही उनके जीवन से अपरिचित।

गृहत्यागी, विरक्त, अपने में ही लीन रहने वाले आचार्यों को अपने बारे में कुछ कहने का विकल्प ही नहीं आता था। काव्य शास्त्रीय नियमानुसार लेखक का नाम व ग्रन्थ का नाम देना अनिवार्य होने से अंतिम प्रशस्ति से हमें उनके नाम मात्र की जानकारी ही उपलब्ध है।

परवर्ती ग्रंथकारों द्वारा उल्लिखित उद्धरणों से हमें उनके काल का अवश्य पता चल जाता है।

मुनि नेमिचन्द्र 11 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे। यह जानकारी विक्रम संवत् 1175 में हुए द्रव्यसंग्रह की वृत्ति से उपलब्ध होती है। लघु द्रव्यसंग्रह की 25 वीं गाथा में ग्रंथकार का नाम 'श्री नेमिचन्द्र'[1] व द्रव्यसंग्रह की 58 वीं गाथा में 'मुनि नेमिचन्द्र'[2] प्रयुक्त किया गया है तथा वृत्तिकार ब्रह्मदेव जी ने मंगलाचरण के टीका के आरंभ में 'नेमिचन्द्र सिद्धांत देव'[3] व अंतिम प्रशस्ति की टीका के अंत में श्री 'नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव'[4] का प्रयोग किया गया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती' से अपनी स्पष्ट भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए ही लेखक ने स्वयं को 'मुनि नेमिचन्द्र' नाम से सम्बोधित किया है। अतः मैंने नाम में मूल गाथा को ही आधार बनाया है।

वृत्तिकार के अनुसार 'द्रव्यसंग्रह' की रचना 'केशवरायपाटन' नगर के मुनिसुव्रतनाथ के मंदिर में बैठकर की गई थी। राजा हम्मीर के समय इस नगर का नाम 'आश्रम पत्तन' था। वर्तमान में यह नगर कोटा (राज.) के समीप है।

वर्तमान में ब्रह्मदेव की टीका 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' नाम से व अन्य टीकाएँ 'द्रव्यसंग्रह' नाम से प्रचलित हैं। 26 गाथाएँ 'लघु द्रव्यसंग्रह' नाम से ही जानी जाती हैं।

---

1. गणीणा सिरिणेमिचंदेण। 2. तणुसत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं।
3. निमित्त श्रीनेमिचन्द सिद्धान्त देवै: पूर्वं...
4. श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदैर्विरचितस्य द्रव्यसंग्रहाभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्ता।

विषयवस्तु

58 गाथाओं में निबद्ध इस पुस्तक का नाम लेखक मुनि श्री नेमिचन्द्र ने स्वयं अंतिम गाथा में 'द्रव्यसंग्रह' दिया है; किन्तु इनके टीकाकार ब्रह्मदेव ने इन 58 गाथाओं की टीका को 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' नाम दिया है; क्योंकि इन्हीं मुनि नेमिचन्द्र ने 'सोम' श्रेष्ठी को समझाने के लिए 26 गाथायें पृथक् से लिखी हैं, जिसके अंत में उन्होंने गाथाओं को ग्रन्थ का नाम न देते हुए बस इतना कहा है कि 'नव पदार्थों के स्वरूप को बताने वाली ये गाथायें भव्य जीवों के उपकार हेतु सोम श्रेष्ठी के निमित्त से मुनि श्री नेमिचन्द्र जी के द्वारा लिखीं गई हैं।'

ब्रह्मदेव ने इन 26 गाथाओं को 'लघुद्रव्यसंग्रह' नाम दिया है। आज यह गाथायें 'लघुद्रव्यसंग्रह' के नाम से ही प्रचलित हैं और ब्रह्मदेव लिखित टीका के साथ 58 गाथायें 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' नाम से जानी जाती हैं; किन्तु जिनमें ब्रह्मदेव की टीका नहीं दी है, वह 58 गाथाओं की पुस्तक 'द्रव्यसंग्रह' नाम से ही जानी जाती है। अतः मैं भी इस पुस्तक को 'द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका' नाम से संबोधित कर रही हूँ।

इस ग्रन्थ में कुल 58 गाथायें हैं। विषयवस्तु के विभाजन के अनुसार उन्हें 6 वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

इनमें एक-एक गाथा आरंभ में मंगलाचरण व अंत में प्रशस्ति की है। शेष 13 गाथाओं में जीव द्रव्य का स्वरूप, 13 गाथाओं में अजीव द्रव्य का स्वरूप, 11 गाथाओं में तत्त्वों का स्वरूप, 19 गाथाओं में मोक्ष के कारणों का स्वरूप बताया गया है। मोक्ष के कारणों की उन्नीस गाथाओं में से 8 गाथाओं में रत्नत्रय, 5 गाथाओं में पंचपरमेष्ठी और 6 गाथाओं में ध्यान का स्वरूप बताया गया है।

पहली गाथा मंगलाचरण की गाथा है। जिसमें इष्टदेव अर्थात् सभी तीनों कालों के तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए उनकी वाणी दिव्यध्वनि का विषय भी बता दिया है। मुनि नेमिचंद्र ने जिस तरह का विभाजन तीर्थंकरों द्वारा खिरने वाली दिव्यध्वनि की विषयवस्तु में किया है; उसी तरह का विभाजन अपने द्वारा लिखित गाथाओं में भी किया है। इसप्रकार लेखक ने बड़ी खूबसूरती से ग्रन्थ की विषयवस्तु भी इस गाथा में बता दी है।

जिनागम में छह द्रव्यों का विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रकार विभाजन किया जाता है। जैसे - जीव-अजीव, चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त, सर्वगत-असर्वगत, अस्तिकाय-अनस्तिकाय आदि।

जीव-अजीव अथवा चेतन-अचेतन :- इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं - जीव और अजीव। इन्हें चेतन और अचेतन भी कहते हैं। जीव द्रव्य चेतन हैं, शेष पाँच अजीव द्रव्य अचेतन हैं।

षट्द्रव्यों में जीव को छोड़कर पाँच अजीव द्रव्य न तो दुःखी हैं और न सुखी; क्योंकि उनमें चेतना ही नहीं है। सुख-दुःख चेतन को ही होते हैं; क्योंकि वे चेतन की ही अनुभूतियाँ हैं।

छहों द्रव्य इन दोनों में कैसे समाते हैं यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -

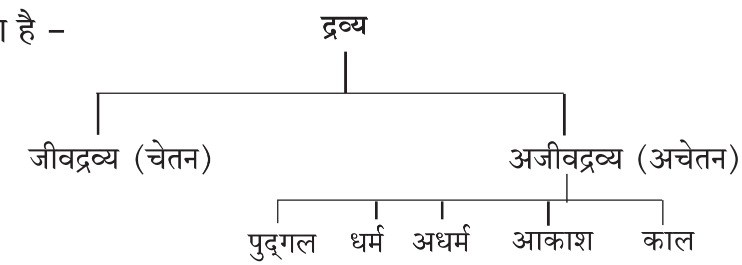

मूर्त्त-अमूर्त्त - स्पर्श-रस-गंध-वर्णवाला पुद्गल स्कंध मूर्त द्रव्य है। जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने के योग्य नहीं होते अर्थात् जिसमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का अभाव होता है, वे अमूर्त्त द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव अमूर्त्त द्रव्य हैं।

छहों द्रव्य इन दोनों में कैसे समाते हैं – यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है –

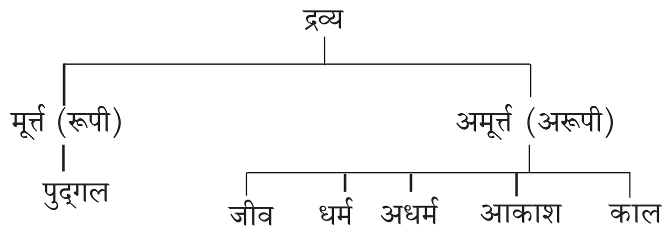

सर्वगत–असर्वगत :– लोक–अलोक में सर्वव्यापक होने से एकमात्र आकाश सर्वगत है, शेष सभी द्रव्य अलोक में व्यापक न होने से असर्वगत हैं।

छहों द्रव्य उक्त भेदों में किसप्रकार गर्भित होते हैं – यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है–

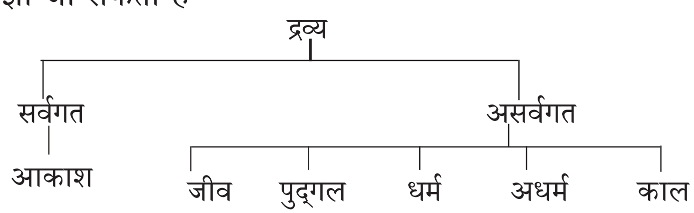

अस्तिकाय–अनस्तिकाय अथवा सप्रदेशी–अप्रदेशी :– जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशवाले होने से सप्रदेशी हैं, अतः अस्तिकाय कहलाते हैं तथा कालाणु एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी है, अस्तिकाय नहीं है; अतः अनस्तिकाय कहलाता है।

छहों द्रव्य उक्त भेदों में किसप्रकार गर्भित होते हैं – यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है–

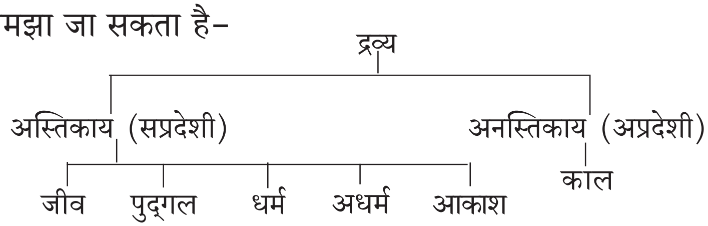

इस ग्रन्थ में 6 द्रव्यों को दो भागों में विभक्त कर समझाया गया है– 1. जीव द्रव्य और 2. अजीव द्रव्य। जीव के अतिरिक्त शेष 5 द्रव्य 'अजीव' में शामिल हैं।

दूसरी गाथा में जीव को सदा उपयोगमय व अमूर्तिक कहा है। वह संसारी अवस्था में शरीर में रहता है व अपनी पर्यायों का कर्त्ता–भोक्ता होता है तथा सिद्ध होने पर वह ऊर्ध्वगमन करता है।

इसके पश्चात् **तीसरी** से **चौदह** गाथा तक जीव के उक्त स्वरूपों पर विस्तार से विशेष चर्चा की गई है।

सर्वप्रथम **तीसरी गाथा** में नयों के माध्यम से जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है कि निश्चय से जिसके चेतना होती है, वही जीव है और व्यवहार से जिसके कम–से–कम 4 प्राण होते ही हैं, उन्हें जीव कहते हैं।

निश्चय प्राण तो निगोद से लेकर सिद्ध पर्यन्त सभी जीवों के होते हैं और व्यवहार प्राण एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी संसारी जीवों में तो होते हैं, किन्तु सिद्धों में नहीं होते।

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में से किस जीव के कितने प्राण होते है? यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है –

जीव	इन्द्रिय	बल	आयु	श्वास	कुल प्राण
एकेन्द्रिय	स्पर्शन	काय	हाँ	हाँ	4
द्वीन्द्रिय	स्पर्शन, रसना	काय, वचन	हाँ	हाँ	6
त्रीन्द्रिय	स्पर्शन, रसना, घ्राण	काय, वचन	हाँ	हाँ	7
चतुरिन्द्रिय	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु	काय, वचन	हाँ	हाँ	8
पंचेन्द्रिय–					
असंज्ञी	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण	काय, वचन	हाँ	हाँ	9
संज्ञी	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण	काय, वचन, मन	हाँ	हाँ	10

चौथी और पाँचवीं गाथा में उपयोग के भेद–प्रभेदों का वर्णन है। जिसे हम निम्न चार्ट द्वारा समझ सकते हैं –

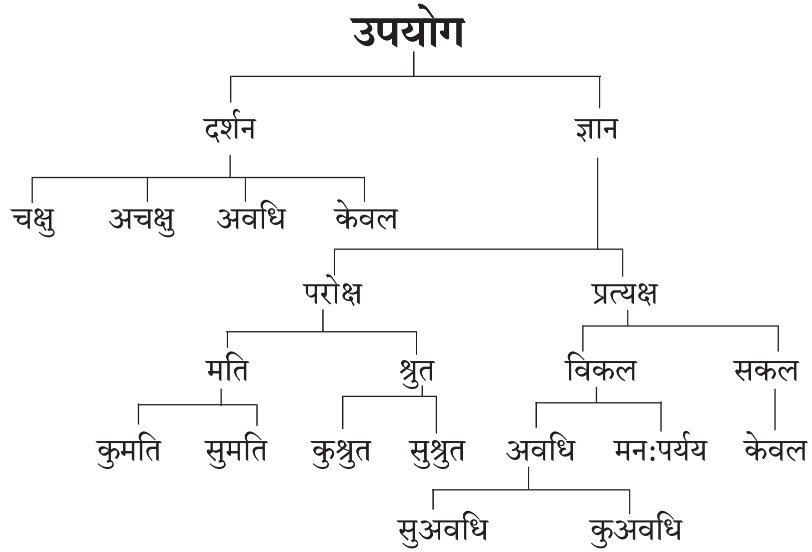

6वीं गाथा में नयों के आधार पर उपयोग का स्वरूप बताते हुए उपसंहार किया गया है।

निश्चयनय से तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन ही जीव का स्वरूप है और व्यवहारनय से चार प्रकार के दर्शन और आठ प्रकार के ज्ञान को भी जीव कहते हैं।

7वीं गाथा में जीव को निश्चयनय से तो अमूर्तिक ही बताया है, पर व्यवहारनय से कर्मबन्धन होने से वह मूर्तिक भी है।

8वीं व **9वीं** गाथा में जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व स्वरूप को समझाया है। शुद्धनय से तो आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य भावों का ही कर्ता-भोक्ता है, किन्तु व्यवहारनय से आत्मा पुद्गल कर्म आदि व सुख-दु:ख का कर्ता-भोक्ता भी कहा जाता है।

10वीं गाथा में जीव के प्रदेशों की अवस्था बताते हुए कहा है कि व्यवहारनय से तो जीव समुद्घात अवस्था को छोड़कर छोटे-बड़े शरीर के प्रमाण ही रहता है और निश्चयनय से लोकाकाश जितने प्रदेश वाला है।

11वीं, 12वीं और **13वीं** गाथा में संसारी जीव की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है।

11-12वीं गाथा में 14 जीव समास और **13वीं** गाथा में 14 गुणस्थान व 14 मार्गणास्थान की अपेक्षा जीव का स्वरूप समझाया है। सभी में निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा बताते हुए कहा है कि ये भेद तो व्यवहार से किए जाते हैं, निश्चय से तो सभी शुद्ध ही हैं।

14वीं गाथा में देह रहित पूर्ण शुद्ध सिद्धों के स्वरूप का वर्णन है। वे शरीर रहित लोक के अग्र में स्थित हैं।

15 से 27 तक की 13 गाथाओं में अजीव द्रव्यों का विस्तार से वर्णन है । जिनमें **15वीं** गाथा में अजीव द्रव्यों के नाम और मूर्तिक-अमूर्तिक की अपेक्षा द्रव्यों के भेद बताए गए हैं।

16वीं गाथा में पुद्गल की पर्यायें, **17वीं** गाथा धर्म द्रव्य का स्वरूप, **18वीं** गाथा में अधर्म द्रव्य का स्वरूप, **19-20वीं** गाथा में आकाश द्रव्य का स्वरूप व भेद तथा **21 व 22वीं** गाथा में काल द्रव्य का स्वरूप व भेद बताए गए हैं। **23वीं** गाथा में छहों द्रव्यों के कथन का उपसंहार करते हुए काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों को पाँच अस्तिकाय कहा है।

इसके पश्चात् **24 से 27** तक की गाथाओं में अस्तिकाय की अपेक्षा से छहों द्रव्यों के प्रदेशों के संदर्भ में विशेष चर्चा है। जो एक प्रदेशी है, वह अनस्तिकाय है और जो बहु प्रदेशी है, वह अस्तिकाय है। विशेष इतना कि परमाणु एकप्रदेशी होने पर भी अस्तिकाय है, क्योंकि वह स्कंधरूप होकर बहुप्रदेशी हो सकता है; जबकि कालाणु के साथ ऐसी बात नहीं है।

27वीं गाथा में प्रदेश का स्वरूप बताकर इस प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है।

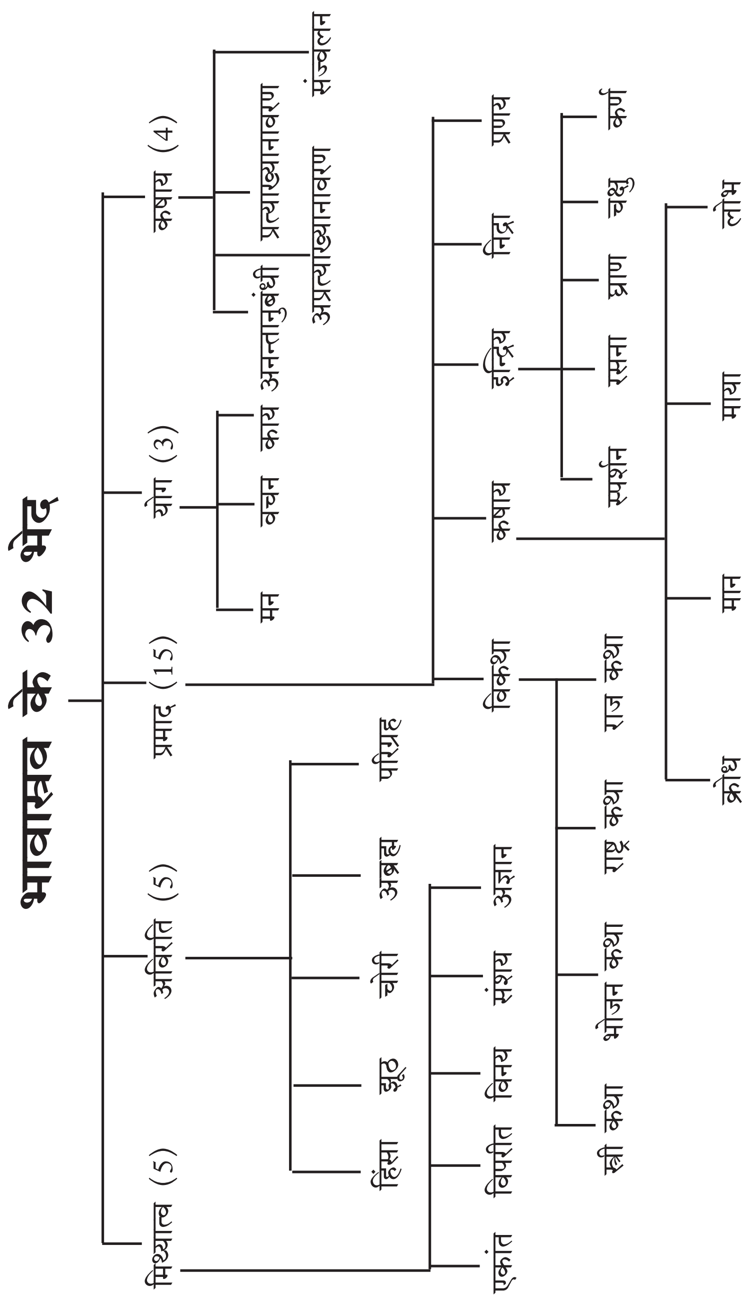

28वीं गाथा से जीव व अजीव द्रव्यों की विशेष पर्यायों का विस्तार से वर्णन है। इसमें उनके नाम बताते हुए कहा है कि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप – ये नौ पदार्थ हैं।

29 से 31 तक की तीन गाथाओं में आस्रवों के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। भावास्रव के भेद-प्रभेदों को पृष्ठ-VIII पर दिए गए चार्ट द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है –

32-33 इन दो गाथाओं में बंध के भेद-प्रभेद का वर्णन है। **34-35** इन दो गाथाओं में संवर के भेद-प्रभेद का वर्णन है। **36-37** इन दो गाथाओं में निर्जरा व मोक्ष का स्वरूप बताया है। **38वीं** गाथा में पुण्य-पाप का स्वरूप बताकर नव पदार्थों की चर्चा समाप्त हो जाती है।

इसप्रकार 38 गाथाओं में वह विषयवस्तु दी गयी है, जिसकी जानकारी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

पाँच अस्तिकाय; छह द्रव्य, सात तत्व, नौ पदार्थ – इसप्रकार जैनदर्शन की वस्तु व्यवस्था का सर्वांगीण विवेचन इन गाथाओं में आ गया है।

इसके पश्चात् 39 से 58 तक की 20 गाथाओं में मोक्ष के कारणों का विस्तृत विवेचन है।

39वीं गाथा में रत्नत्रय रूप निश्चय व व्यवहार मोक्ष के कारणों का सामान्य कथन है व **40वीं** गाथा में निश्चय मोक्षमार्ग का विशेष कथन है।

41वीं गाथा में निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जीवादि तत्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। इसके होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

42वीं गाथा में निश्चय सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि संशय, विमोह, विभ्रम रहित स्व-पर का जानना सम्यग्ज्ञान है।

43वीं व **44वीं** गाथा में दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग का स्वरूप बताते हुए केवली के ज्ञान की विशेषता भी बता दी है। उन्हें ये उपयोग क्रमशः नहीं; एकसाथ होते हैं।

45वीं व **46वीं** गाथा व्यवहार चारित्र व निश्चय चारित्र का वर्णन है।

इसप्रकार **39 से 46** तक 8 गाथाओं में रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है।

47वीं गाथा से 57वीं गाथा पर्यन्त ध्यान की प्रेरणा, महिमा, स्वरूप, विषय आदि का विस्तार से वर्णन है।

सर्वप्रथम **47वीं** गाथा में ध्यान करने की प्रेरणा दी गयी है।

48वीं गाथा में ध्यान की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष रहित होकर चित्त को स्थिर करने का उपदेश दिया गया है।

49वीं गाथा में ध्यान योग्य मंत्र के बारे में जानकारी दी गयी है। **50 से 54** तक की 5 गाथाओं में ध्यान मंत्र में आए पंचपरमेष्ठी का स्वरूप बताया गया है।

55वीं गाथा में पुनः निश्चय ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि एकबार आत्मा में एकाग्रता होने के पश्चात् अर्थात् परमध्यान होने के पश्चात् ज्ञानी हुए जीव का इच्छा रहित स्व-पर में से किसी का भी, कुछ भी चिंतन ध्यान कहलाता है। जैसे- मुनिराज बाहुबली की एक साल की जो अवस्था है, वह ध्यान अवस्था कहलाती है। **इस अवस्था में बिना इच्छा के, चाहत के स्व-पर किसी का भी चिंतन चल सकता है।** इस लंबी ध्यान अवस्था के मध्य (बीच-बीच) में परम ध्यान अवस्था भी भूमिकानुसार आती रहती है। इसी परम ध्यान का स्वरूप 56 वीं गाथा में बताया गया है। उक्त दोनों गाथाओं में ध्यान और परमध्यान का अंतर एकदम स्पष्ट ज्ञात होता है।

इनमें निर्विकल्प परमध्यान से पूर्व और पश्चात् की अवस्था को भी ध्यान कहा गया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 47 से 56 तक की 10 गाथाओं में ध्यान करने की संपूर्ण विधि बता दी गई है।

जैसा कि हम देखते हैं सर्वप्रथम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के मन में विचार उठता है कि हमारा तो चित्त चंचल है, मन एक जगह लगता ही नहीं, अनेक विकल्प उठते रहते हैं; तो कैसे करें हम ध्यान?

उसके समाधान स्वरूप इसमें बताया गया है कि सर्वप्रथम तुम बाह्य पदार्थों से अपना मन हटाकर शास्त्रों का स्वाध्याय करो, पंच परमेष्ठी का स्वरूप जानो और णमोकार मंत्र का स्मरण करो। जब-जब तुम्हारा मन बाह्य राग-द्वेष की प्रवृति में भटके, तब-तब तुम उससे बचने के लिए पंच परमेष्ठी का विस्तार से स्वरूप जानो। जब मन उनके स्वरूप में लगने लगे, बिल्कुल भी भटके नहीं; तब पंचपरमेष्ठी के सूचक णमोकार मंत्र का पूर्ण स्मरण करो। जैसे-जैसे मन स्थिर होने लगे वैसे-वैसे भेद से अभेद की ओर बढ़ते हुए मात्र 'ॐ' पर चित्त स्थिर करो।

उक्त सभी अभ्यास से पाप से तो बच जायेंगे, पर पुण्य का बंध तो होगा ही। दुःखों से बचने के लिए, परिपूर्ण सुख प्राप्ति के लिए हमें तो पुण्य-पाप से पार होना है। अतः हमें पंचपरमेष्ठी का चिंतन छोड़कर, स्व की और बढ़ना चाहिए; क्योंकि पंचपरमेष्ठी भी पर हैं, उनका चिंतन भी पर का ही चिंतन हुआ।

यह स्व-पर का चिंतन इच्छा रहित होना चाहिए। 'मैं सम्यग्दर्शन प्राप्त करूँ, मैं आत्मानुभूति करूँ' -ऐसी इच्छा या विकल्प से भी परे स्व का चिंतन चलना चाहिए। इस चिंतन के समय काय व वाणी की कोई क्रिया नहीं होती। यह ध्यान अवस्था है। इसी ध्यान अवस्था में

धीरे–धीरे मन सहज रूप से निर्विकल्प हो जाता है। इसप्रकार मन, वचन, काय की चेष्टा से रहित अवस्था ही परमध्यान अवस्था है।

यह अवस्था एक छोटे से छोटे समय भी रह जाए तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है और अधिक समय टिक जाए तो दुःखों से पूर्ण मुक्त अर्हन्त, सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। अतः परमध्यान ही उत्कृष्ट ध्यान है, निश्चय ध्यान है।

यही प्रत्येक सुखार्थी के करने योग्य कार्य है। अतः इसी को निरंतर करने के प्रयास की प्रेरणा 57वीं गाथा में दी गई है।

इसप्रकार लक्ष्य की प्राप्ति का परिपूर्ण मार्ग दिखाकर यह ग्रन्थ यहाँ समाप्त हो जाता है।

इसके पश्चात् अंतिम 58 वीं गाथा में ग्रंथकार अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थ की शुद्धि (भूल से हुए दोषों के निवारण) के लिए विशेषज्ञ दोषरहित मुनिराजों को याद करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस ग्रंथ में द्रव्यों के मूल रूप से दो भेद किए गए हैं – जीव और अजीव ।

आरंभ की 13 गाथाओं में जीव द्रव्य के विभिन्न रूपों को विभिन्न अपेक्षाओं से विस्तार से समझाया गया है।

इसके पश्चात् पाँचों अजीव द्रव्यों के स्वरूप को संक्षेप में 13 गाथाओं में समेट लिया गया है।

तदुपरांत जीव की विकारी व निर्मल पर्याय का स्वरूप 11 गाथाओं में विस्तार से बताया गया है।

इसके पश्चात् विकारी भावों से मुक्ति के कारणों का स्वरूप विस्तार से 19 गाथाओं में समझाया गया है। जिनमें रत्नत्रय व ध्यान का स्वरूप विस्तार से बताया गया है। संक्षेप में कहें तो इस छोटे से ग्रंथ में मुक्ति का संपूर्ण मार्ग समाहित हो गया है। ●

1. मंगलाचरण

गाथा 1

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥1॥

पदविच्छेद – जीवम्+अजीवं, जिणवर–वसहेण, देविन्द–विन्द–वंदं।

शब्दार्थ – जीवम् = जीव, अजीवम् = अजीव, दव्वं = द्रव्य का, जिणवरवसहेण = जिनवरवृषभ ने (सभी तीर्थंकरों ने), जेण = जिन, णिद्दिट्ठं = वर्णन किया है, देविन्द = देवों के इन्द्र, विन्द = समूह से, वंदं = वन्दनीय, तं = उन (तीर्थंकरों) को, सव्वदा = सदा, सिरसा = मस्तक झुकाकर, वंदे = वंदना करता हूँ।

संदर्भ – इस गाथा में तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए मुनि श्री नेमिचन्द्र कहते हैं कि –

अर्थ – मैं देवों के इंद्रों के समूह से वंदनीय, पूज्यनीय उन सभी तीर्थंकरों को सदा सिर झुका कर नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्य का वर्णन किया है।

व्याख्या – मंगलाचरण की गाथा होने से इसमें इष्टदेव को नमस्कार किया गया है। इसमें 'जिनवरवृषभ' कहकर इष्टदेव में सभी कालों (भूत, वर्तमान व भविष्य) और सभी क्षेत्रों (भरत क्षेत्र, विदेह क्षेत्र आदि) के तीर्थंकरों को समाहित किया गया है, क्योंकि जो सभी जिनवरों में श्रेष्ठ होते हैं, उन्हें 'जिनवरवृषभ' कहते हैं। सभी तीर्थंकर **जिनवरवृषभ** कहलाते हैं। जो सभी जिनों में श्रेष्ठ होते हैं, वे **जिनवर** कहलाते हैं। सभी गणधर 'जिनवर' कहलाते हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक, पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि देशव्रती

श्रावक और छठे गुणस्थानवर्ती सभी सम्यग्दृष्टि महाव्रती मुनिराजों को 'जिन' कहा जाता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि जिनागम में 'जिन' संज्ञा (नाम) चतुर्थ गुणस्थान[1] से ही मानी गयी है, जबकि आज अधिकांश जन 13 वें गुणस्थान वाले अरहन्त परमेष्ठी को ही 'जिन' कहते हैं, मानते हैं।

जिसप्रकार गुड (GOOD), बेटर (BETTER) और बेस्ट (BEST) होता है; वैसे ही जिन, जिनवर, 'जिनवरवृषभ' यह तीन विशेषण हैं; उपनाम हैं।

इसप्रकार 'जिनवरवृषभ' विशेषण द्वारा अपने इष्टदेव की **पहली विशेषता** बताते हुए मुनि श्री नेमिचन्द्र जी कह रहे हैं कि जो मिथ्यात्व व समस्त कषायों और राग-द्वेष से रहित होकर वीतरागी हो गए हैं; वे ही हमारे इष्टदेव हैं। मैं उन्हें सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

इस विशेषण द्वारा **तीर्थंकरों के गुणों को** बताया गया है। हम तो गुणों को नमस्कार करते हैं, व्यक्ति विशेष को नहीं। अतः जो-जो वीतरागी होंगे वे सभी हमें वंदनीय हैं, पूज्यनीय हैं।

दूसरी विशेषता बताते हुए लेखक कहते हैं कि वे तीर्थंकर न केवल मनुष्य लोक में, अपितु तिर्यंच और देवलोक के इंद्रों से भी पूज्यनीय हैं । इंद्र (राजा) 100 माने गए हैं, जिनमें 98 इंद्र (राजा) तो देव गति के होते हैं और 1-1 राजा मनुष्य व तिर्यंचगति के, देवगति में भवनवासी देवों के 40, व्यंतर देवों के 32, कल्पवासी देवों के 24 व ज्योतिषी देवों के 2 (सूर्य और चन्द्रमा) - इसप्रकार 98 इंद्र होते हैं। चक्रवर्ती मनुष्यगति का व शेर तिर्यंचगति का इंद्र माना जाता है।

जो इंद्रों द्वारा, राजाओं द्वारा वंदनीय हो; उसे प्रजा तो वंदना करती ही है । इसप्रकार 100 इन्द्र कहकर देवगति, मनुष्यगति और तिर्यंचगति

1. 'जिणवरवसहेण' जितमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिना: असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वरा: गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभ: प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थंकरपरमदेवस्तेन जिनवरवृषभेणेति।
-वृहदद्रव्यसंग्रह गाथा 1 की टीका, पृ.-5

के सभी जीवों द्वारा पूज्यनीय, वंदनीय बताया गया है।

इस विशेषण द्वारा उनकी **महिमा** बताई है। जिसप्रकार हम आज कहते है कि देखो भारत के प्रधानमंत्री कितने योग्य हैं; जिन्हें अमेरिका, चीन, रूस आदि सभी बड़े-बड़े देशों के प्रधान राष्ट्रपति भी सम्मान देते हैं; उसी प्रकार इस गाथा में भी कहा गया है कि तीर्थंकर न केवल हम मनुष्यों के अपितु तिर्यंचों के, देवलोक के सभी इंद्रों द्वारा भी वंदनीय हैं।

तीसरा विशेषता - जिन्होंने अपनी दिव्यध्वनि में जीव और अजीव द्रव्य का वर्णन किया है; जिसे समझकर, जानकर, पहचानकर, मानकर यदि हम अपने सही स्वरूप को समझ लें तो हम भी उन जैसे पूर्ण दुःखों से मुक्त हो सकते हैं, पूर्ण सुखी हो सकते हैं। अतः वे हमारे नमस्कार योग्य हैं।

इस विशेषण द्वारा उन्हें **नमस्कार करने का प्रयोजन** भी बताया है। उनका उपदेश हमें हमारे दुःख दूर करने में निमित्त हो सकता है। इस विशेषण द्वारा अपने प्रयोजन की सिद्धि उनके द्वारा ही हो सकती है- यह बताकर उन्हें ही नमस्कार करने का कारण बताया है।

साथ ही साथ इस विशेषण में बताए गए उपदेश द्वारा ग्रन्थ की **विषय वस्तु** भी बता दी है कि उन्हीं जीव-अजीव द्रव्यों का वर्णन मैं भी इस ग्रन्थ में करूँगा, जिसका वर्णन तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में आया है। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का सार होने से अपने ग्रन्थ की **प्रामाणिकता** के लिए अन्य ग्रन्थ के प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रही।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तीन विशेषणों के द्वारा लेखक ने हमारा ध्यान तीन बातों की और विशेष आकर्षित किया है।

जैनदर्शन में द्रव्य के छः भेद बताये गए हैं। उन्हीं छः भेदों को इस गाथा में दो भेदों में समाहित कर लिया गया है। यह भेद जीव द्रव्य की

अपेक्षा किये गए हैं। जैसे लोक में भी हम प्रयोग करते हैं कि हम जैन वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान को मानते हैं, अतः हमारे भगवान प्रसन्न होकर कुछ देते-लेते नहीं हैं; किन्तु 'अजैनों' में भगवान भक्तों को बचाने के लिए दुष्टों का संहार भी करते हैं। इस वाक्य में 'अजैन' पद में हिन्दु, मुस्लिम, सिख, ईसाई, सभी धर्मों को शामिल किया गया है; उसीप्रकार 'अजीव' पद में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों को शामिल किया गया है।

संक्षेप में कहें तो इस गाथा में **इष्टदेव को नमस्कार, इष्टदेव के गुणों की विशेषता; इष्टदेव की वाणी की विशेषता व विषयवस्तु एवं अपने इस ग्रन्थ की विषयवस्तु व प्रमाणिकता –** सभी कुछ समाहित हो गयी है।

इसके पश्चात् दूसरी गाथा में 'जीव' के विभिन्न रूपों को बताया गया है। ●

नमस्कार के भेद

नमस्कार दो प्रकार से हो सकता है – भाव नमस्कार और द्रव्य नमस्कार।

स्वयं की निज शुद्धात्मा की प्रतीति और एकाग्रता हो, वह भाव नमस्कार है अर्थात् स्वयं, स्वयं की निर्मल वीतरागी पर्याय द्वारा स्वयं की आत्मा में झुक गया, नम गया – यह निश्चय से भाव नमस्कार है। यह साधक दशा की बात है, अतः यहाँ एकदेश शुद्धता की बात ली गई है।

अन्दर में ऐसे निश्चय सहित भगवान को नमस्कार करने का विकल्प आए, वह व्यवहार नमस्कार है अर्थात् पर को नमस्कार करना – यह व्यवहार है। चूँकि भगवान की ओर का लक्ष्य, वह विकल्प है, राग है; अतः वह वास्तविक नमस्कार नहीं, निश्चय नमस्कार नहीं। वह तो व्यवहार नमस्कार है।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह, स्वामीजी के प्रवचन के आधार से, पृ.-9

2. जीवद्रव्य

गाथा 2

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।।2।।

पदविच्छेद – सदेह-परिमाणो।

शब्दार्थ– सो = वह, जीवो = जीव, उवओगमओ = उपयोगमय है, अमुत्ति = अमूर्तिक है, कत्ता = कर्ता है, सदेह = अपने (छोटे-बड़े) शरीर, परिमाणो = प्रमाण में रहनेवाला है, भोत्ता = भोक्ता है, संसारत्थो = संसार में रहनेवाला है, सिध्दो = सिध्द है, विस्ससोड्ढगई = स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

संदर्भ – इस गाथा में जीव के विभिन्न रूपों को बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – जो उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, भोक्ता है, अपने छोटे-बड़े शरीर के प्रमाण के अनुसार रहने वाला है, संसार में स्थित है, सिद्ध है, और ऊपर की ओर जाने के स्वभाव वाला है; वह जीव है।

व्याख्या – इस गाथा में जीव के जो-जो विशेषण दिए गए हैं, उन सभी को आगे की गाथाओं में नयों के माध्यम से विस्तार से समझाया गया है, अतः उनकी विस्तृत चर्चा उन्हीं गाथाओं में करेंगे।

'उपयोगमय' होना जीव का स्वभाव है। उपयोग में ज्ञान-दर्शन दोनों सम्मलित होते हैं और उन्हें एक पद में 'चेतना' भी कहा जाता है। चेतना अर्थात् 'चैतन्य'। यह गुण ही आत्मा का वह विशेष गुण है जिससे उसे अन्य द्रव्यों से पृथक् किया जाता है, पहचाना जाता है। यही चेतना (उपयोग) आत्मा का वास्तविक प्राण हैं।

इसके पश्चात् सर्वप्रथम जीव के स्वरूप को नयों के माध्यम से तीसरी गाथा में बताया जा रहा है। ●

गाथा 3

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।

ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स।।3।।

पदविच्छेद – चदु-पाणा, इन्दिय-बलम्+आउ।

शब्दार्थ – ववहारा = व्यवहारनय से, तिक्काले = तीन काल में (भूत, वर्तमान और भविष्यकाल), इन्दिय = इन्द्रिय, बलम् = बल, आउ = आयु, य = और, आणपाणो = श्वासोच्छ्वास, चदु = चार, पाणा = प्राण (होते हैं), दु = और, णिच्चयणयदो = निश्चयनय से, जस्स= जिसके, चेदणा = चेतना होती है, सो = वह, जीवो = जीव है।

संदर्भ – इस गाथा में नयों के आधार पर जीव का स्वरूप बताते हुए मुनि श्री नेमिचंद्र कहते हैं कि –

अर्थ – निश्चय से जिसके चेतना होती है, वही जीव है और व्यवहारनय से जिसके तीनों कालों में इंद्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छवास रूप चार प्राण होते हैं, उन्हें जीव कहते हैं।

व्याख्या – निश्चयनय वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन करता है, जो वस्तु में सदा विद्यमान रहता है और व्यवहारनय किसी अपेक्षा से उपचरित कथन करता है।[1] इन्हीं दोनों अपेक्षा से जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है कि निश्चयनय से जो चेतन प्राणों से भूतकाल में जीता था, वर्तमान में जीता है और भविष्य में जिएगा, वह जीव है तथा व्यवहारनय से जो भूतकाल में चारों प्राणों से जीता था, वर्तमान में जीता है और भविष्य में जिएगा, वह जीव है।

वैसे तो व्यवहार प्राण 10 होते हैं, किंतु चार प्राणों के बिना कोई संसारी जीव नहीं होता। यह चार प्राण सभी संसारी जीव में होते ही हैं। अतः यहाँ चार प्राणों की चर्चा की है। एकेन्द्रिय जीवों के यह चार प्राण ही होते हैं। दो इंद्रिय जीवों में रसना इंद्रिय और वचन बल अधिक

1. नयों की विशेष जानकारी लेखिका की अन्य कृति 'नयचक्र गाइड' में उपलब्ध है।

होकर कुल 6 प्राण होते हैं। तीन इंद्रिय जीवों के घ्राण इन्द्रिय अधिक होकर 7 प्राण होते हैं। चार इन्द्रिय जीवों में चक्षु इंद्रिय अधिक होकर 8 प्राण होते हैं।

पाँच इन्द्रिय जीव मनसहित व मनरहित – दोनों प्रकार के होते हैं। जिनके मन नहीं होता, वे असंज्ञी (असैनी) कहलाते हैं। इनके नौ प्राण होते हैं।

जिन पाँच इंद्रिय जीवों में कान के साथ-साथ मन भी होता है, उनके सर्वाधिक 10 प्राण होते हैं। इन्हें संज्ञी (सैनी) भी कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण); तीन बल (मन, वचन, काय), आयु और श्वासोच्छवास कुल मिलाकर 10 प्राण होते हैं। एक साथ अधिक से अधिक 10 प्राण हो सकते हैं। चार प्राण तो सभी जीवों के होते ही हैं, उनके बिना कोई संसारी जीव नहीं होता। यह सभी व्यवहारनय से ही जीव कहलाते हैं निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चेतना ही जीव है; क्योंकि वही जीव की सब अवस्थाओं में पाई जाती है। यह शुद्ध चेतना ही निश्चयनय से प्राण है।

जिनके द्वारा जीव जीता है, उन्हें **प्राण** कहते हैं। प्राण दो प्रकार के होते हैं – निश्चयप्राण (भावप्राण) और व्यवहारप्राण (द्रव्यप्राण) जीव की ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य शक्ति ही भाव प्राण हैं, **निश्चय प्राण** हैं। द्रव्यप्राण पुद्गल से बनते हैं। संसारी जीव द्रव्य प्राणों की अपेक्षा से और सिद्ध जीव भाव प्राणों की अपेक्षा से जीव कहे जाते हैं। सिद्ध जीवों के द्रव्य प्राण नहीं होते।

पाँच इन्द्रियाँ, श्वास आदि दस प्राण **द्रव्य प्राण** हैं।

जीव चेतन द्रव्य है, ज्ञान दर्शन उसके गुण हैं। उसका एक नाम चैतन्य है। चेतना का अनुसरण करने वाले आत्मा के परिणाम को **उपयोग** कहते हैं। उपयोग के भेदो-प्रभेदों को ही गाथा 4 में बताया जा रहा है।
●

गाथा 4

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ।।4।।

पदविच्छेद – दंसणम्+अध।

शब्दार्थ – उवओगो = उपयोग, दुवियप्पो = दो प्रकार का है, दंसणं = दर्शन, णाणं = ज्ञान, च = और, दंसणं = दर्शनोपयोग, चदुधा = चार प्रकार का, णेयं = जानना चाहिए, चक्खु = चक्षु (दर्शन), अचक्खु = अचक्षु (दर्शन), ओही = अवधि (दर्शन), अध = और, केवलं दंसणं = केवलदर्शन।

संदर्भ – इस गाथा में उपयोग के भेद-प्रभेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – उपयोग दो प्रकार का होता है – दर्शन उपयोग और ज्ञान उपयोग। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

व्याख्या – लौकिक जीवन में हम 'उपयोग' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में करते हैं। जैसे – 'यह वस्तु मेरे उपयोग की नहीं है' अथवा 'मेरा उपयोग नहीं था, अतः मैं सुन नहीं पाया'।

इस गाथा में उक्त किसी भी अर्थ में 'उपयोग' का प्रयोग नहीं किया गया है। 'उपयोग नहीं था' अर्थात् चेतना का व्यापार नहीं था। हमें पदार्थों का ज्ञान चेतना के व्यापार से ही होता है। यही उपयोग की परिभाषा में बताते हुए कहा है कि ज्ञान-दर्शन के व्यापार अर्थात् कार्य को ही उपयोग कहते हैं। यह ज्ञान दर्शन सब जीवों में होता है। जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता। यह उपयोग आत्मा का स्वभाव भाव है; अतः यह न तो पर से आता है, न पर से हरण हो सकता है, न ही पर से मलिन हो सकता है, न ही उसे पर के आलंबन, सहारे की आवश्यकता है और न ही पर इसका नाश कर सकता है।

ज्ञान दर्शन के आधार पर इसके दो भेद हैं –

1. दर्शनोपयोग और 2. ज्ञानोपयोग

जिसमें सामान्य का प्रतिभास (निराकार झलक) हो, उसे **दर्शनोपयोग** कहते हैं।

दर्शनोपयोग में दर्शन से तात्पर्य 'देखना' या 'देवदर्शन' वाला दर्शन नहीं है, अपितु जिसमें मात्र पदार्थों की सत्ता[1] का सामान्य अवलोकन होता है, आभास होता है, कोई भी भेद दिखाई नहीं पड़ता है, वह **दर्शनोपयोग** है। यह निर्विकल्प होता है।

जिसमें स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक अवभासन हो, उसे **ज्ञानोपयोग** कहते हैं। यह सविकल्प होता है।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के अंतर को हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं –

दर्शनोपयोग	ज्ञानोपयोग
1. वस्तु का सामान्य भेद रहित प्रतिभास मात्र होता है।	1. वस्तु का विशेष स्व-पर भेद सहित जानना होता है।
2. उसका स्वरूप निर्विकल्प, निराकार और निर्व्यवसायमय (अनिर्णयात्मक) है।	2. इसका स्वरूप साकार, सविकल्प और व्यवसायमय (निर्णयात्मक) है।
3. छद्मस्थ दशा में दर्शनोपयोग के बाद ज्ञानोपयोग होने का कोई नियम नहीं है। कभी होता है और कभी नहीं होता है।	3. छद्मस्थ दशा में नियम से दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है और केवलज्ञानी के एक साथ होते हैं।
5. दर्शनोपयोग में तत्वनिर्णय की क्षमता नहीं है।	5. इसमें तत्त्वनिर्णय और भेदविज्ञान की क्षमता होती है।
6. दर्शनोपयोग के 4 भेद हैं।	6. ज्ञानोपयोग के 8 भेद हैं।

1. अयमत्र भावः – यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति; तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते। पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जागते ज्ञानमिति।

– वृहदद्रव्यसंग्रह गाथा 43 की टीका, पृ.-212

दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है – 1. चक्षुदर्शन 2. अचक्षुदर्शन 3. अवधिदर्शन 4. केवलदर्शन

चक्षु इंद्रिय जिसमें निमित्त हो, उस मतिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य प्रतिभास (अवलोकन) को **चक्षुदर्शन** कहते हैं।

चक्षु इंद्रिय को छोड़कर शेष चार इंद्रियाँ और मन जिसमें निमित्त हों – ऐसे मतिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य प्रतिभास (अवलोकन) को **अचक्षुदर्शन** कहते हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि– आँखों से देखकर जानना चक्षुदर्शनोपयोग नहीं है; वह तो चक्षु इन्द्रिय संबंधी मतिज्ञान ही है। जब यह जीव चक्षु को निमित्त बनाकर किसी 'रूपी' पदार्थ को जानता है, तब उसके पूर्व उस 'रूपी' पदार्थ का जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह **चक्षुदर्शनोपयोग** है।

इसीप्रकार आँखों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान अचक्षुदर्शनोपयोग नहीं है; अपितु अन्य इन्द्रियों के ज्ञान के पूर्व होने वाला उन पदार्थों की सत्तामात्र का सामान्य आभास **अचक्षुदर्शनोपयोग** है। इनमें से स्पर्शन, रसना, घ्राण, और कर्ण संबंधी अचक्षुदर्शनोपयोग मात्र 'रूपी' पदार्थों का ही होता है और मन संबंधी अचक्षुदर्शनोपयोग रूपी और अरूपी सभी पदार्थों का होता है।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का अंतर हम निम्नप्रकार समझ सकते हैं।

चक्षुदर्शन	**अचक्षुदर्शन**
1. यह चार इन्द्रिय जीवों से लेकर (छद्मस्थ) पंचेन्द्रिय पर्यन्त रहता है।	1. यह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी छद्मस्थ जीवों को होता है।

2. यह मात्र चक्षुइन्द्रिय संबंधी कुमति या सुमति के पूर्व ही होता है।	2. यह चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी इन्द्रिय, मन, संबंधी कुमति और सुमतिज्ञान के पूर्व होता है।
3. आत्मानुभूति के समय होने वाले ज्ञानोपयोग के पूर्व नियम से नहीं होता है।	3. आत्मानुभूति के समय होने वाले ज्ञानोपयोग के पूर्व यही दर्शन होता है, अन्य नहीं।

अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं। इसमें भी मात्र रूपी पदार्थों का ही निराकार आभास मात्र होता है; क्योंकि अवधिज्ञान मात्र रूपी पदार्थों का ही ज्ञान कराता है।

केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण विश्व की सत्ताओं के सत्तामात्र का प्रतिभास एकसाथ हो जाता है। इसमें निराकार, निर्विकल्प अवलोकन होता है। इसकी विशेषता यह है कि यह केवलज्ञान के साथ ही होता है; क्योंकि केवलदर्शन व केवलज्ञान में कालभेद नहीं होता।

इसके पश्चात् गाथा 5 में ज्ञानोपयोग के भेद बताए जा रहे हैं। ●

पर्याप्ति

सभी जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर पर्याप्तक कहलाते हैं। पर्याप्ति छह होती हैं– आहार, शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा और मन। जिन जीवों को शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, वे जीव अपर्याप्तक कहलाते हैं। अपर्याप्तक जीव दो प्रकार के होते हैं–

(अ) निवृत्ति अपर्याप्तक (ब) लब्धि अपर्याप्तक

(अ) जिन जीवों को शरीर पर्याप्ति वर्तमान में पूर्ण नहीं हुई है; पर भविष्य में पूर्ण हो जावेगी, वे जीव निवृत्ति अपर्याप्तक कहलाते हैं।

(ब) जिन जीवों को शरीर पर्याप्ति कभी पूर्ण नहीं होती अर्थात् जो शरीर पर्याप्ति पूर्ण किए बिना ही मर जाते हैं, वे जीव लब्धि अपर्याप्तक कहलाते हैं।

छहों पर्याप्तियों का प्रारंभ युगपत् होता है; क्योंकि जन्मसमय से ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम से ही होती है। छहों पर्याप्तियों की शक्ति की पूर्णता एक अंतर्मुहुर्त में हो जाती है।

गाथा 5

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च।।५।।

पदविच्छेद – अट्ठ-वियप्पं, मदि-सुद-ओही, अणाण-णाणाणि, मणपज्जय-केवलम्+अवि, पच्चक्ख-परोक्ख-भेयं।

शब्दार्थ – मदि = मति, सुद = श्रुत, ओही = अवधि, अणाण = अज्ञान, णाणाणि = ज्ञान, मणपज्जय = मन:पर्ययज्ञान, केवल = केवलज्ञान, णाणं = ज्ञान, अट्ठ = आठ, वियप्पं = प्रकार का है, च = और, पच्चक्ख = प्रत्यक्ष, परोक्ख = परोक्ष के, भेयं = भेद से।

संदर्भ – इस गाथा में ज्ञानोपयोग के भेद बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – ज्ञानोपयोग 8 प्रकार का है। मति, श्रुत और अवधि – यह तीन अज्ञान रूप भी होते हैं और ज्ञान रूप भी। जो निम्न प्रकार हैं –

मतिअज्ञान (कुमतिज्ञान), श्रुतअज्ञान (कुश्रुतज्ञान), अवधिअज्ञान (कुअवधिज्ञान), मतिज्ञान (सुमतिज्ञान), श्रुतज्ञान (सुश्रुतज्ञान), अवधिज्ञान (सुअवधिज्ञान), मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इसमें भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप भेद हैं।

व्याख्या – इस गाथा की विशेष बात यह है कि मति, श्रुत और अवधि – इन तीनों ज्ञानों के भेद ज्ञान व अज्ञान के रूप में किए गए हैं; जबकि जनसामान्य में अज्ञान वाले भेद कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान नाम से प्रचलित हैं, अतः हम भी वही प्रयोग करेंगे।

ज्ञानोपयोग में वस्तुओं के स्वरूप का ग्रहण होता है। यह 8 प्रकार का है। जो निम्न हैं – मतिज्ञान (कुमतिज्ञान, सुमतिज्ञान), श्रुतज्ञान (कुश्रुतज्ञान, सुश्रुतज्ञान), अवधिज्ञान (कुअवधिज्ञान, सुअवधिज्ञान), मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

1. मतिज्ञान – पराश्रय की बुद्धि छोड़कर दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रकट होने वाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान

कहते हैं अथवा इन्द्रियाँ और मन है निमित्त जिसमें, उस ज्ञान को **मतिज्ञान** कहते हैं।

जिनागम में मतिज्ञान की उक्त दो परिभाषाएँ दी गयी हैं। ये परिभाषाएँ दो दृष्टियों से दी गई हैं – 1. आत्मा को जानने की अपेक्षा और 2. परपदार्थों को जानने की अपेक्षा।

पहली परिभाषा में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मज्ञान स्वसन्मुखता से होता है उसमें इन्द्रिय और मन की आवश्यकता नहीं हैं। यही ज्ञान अतीन्द्रिय आनंद का कारण है।

दूसरी परिभाषा परपदार्थों को जानने की अपेक्षा दी गयी है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि इन्द्रियों और मन से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, वे तो मात्र संसारी आत्मा को ज्ञान में निमित्त हैं। अतः उन पर ज्ञान का आरोप आता है। मतिज्ञान का विकास चक्षु-अचक्षु दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप में होता है।

2. श्रुतज्ञान – मतिज्ञान द्वारा जाने गए पदार्थ के संबंध से अन्य पदार्थों को जानने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

'श्रुत[1]' शब्द सुनते ही हमारे मन मस्तिष्क में दो अर्थ कौंधते (आते) हैं – 1. सुनना ही श्रुत है और 2. शास्त्रों को पढ़ना ही श्रुत है। यद्यपि सुनना-पढ़ना श्रुत है, किन्तु श्रुतज्ञान में 'श्रुत' पद से तात्पर्य मात्र सुनना नहीं है, अपितु विशेष रूप से ऊहा करना अर्थात् तर्कणा करना श्रुतज्ञान है। यह ज्ञान संशय, विपर्यय (विपरीत, उल्टा) व अनध्यवसाय[2] से रहित होता है।

श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है – 1. अक्षरात्मक और 2. अनक्षरात्मक।

---

1. अक्षरों से उत्पन्न सत्यार्थ के प्रकाशक पद के समूह का नाम 'श्रुत' है। 'अ' 'आ' आदि को अक्षर कहते हैं। ये अनादि-अनन्त हैं, किसी के किए हुए नहीं हैं, स्वयंसिद्ध हैं। इन अनादि-अनन्त अक्षरों का समूह होने से ये पद भी अनादि-अनन्त हैं।
2. इनके बारे में विशेष जानकारी गाथा 42 की व्याख्या में दी गई है।

1. शब्द सुनने के बाद जो अर्थज्ञान होता है, वह अक्षरात्मक श्रुत है। जैसे – घड़ा शब्द को सुनने के पश्चात् जो घड़े रूप वस्तु या जाति का ज्ञान होता है, वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। इसमें विशेष बात यह है कि इन्द्रियों से ग्रहण किए हुए पदार्थ से पृथक्भूत पदार्थ का ग्रहण करना श्रुतज्ञान है। जैसे – घड़ी शब्द से घड़ी पदार्थ को जानना अथवा धुएँ से अग्नि को जानना। लेना-देना, शास्त्र पढ़ना आदि सभी व्यवहारों का मूल भी अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जो अक्षर के निमित्त के बिना हो, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे ठंडा-गर्म आदि स्पर्श में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है अर्थात् ठंडी हवा का स्पर्श होने पर ठंडी हवा का ज्ञान होना मतिज्ञान है और यह वायु प्रकृति वाले को अनिष्ट है – यह जानना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है; क्योंकि यह ज्ञान अक्षर के निमित्त के बिना उत्पन्न हुआ है।

श्रुतज्ञान का विषय सभी पदार्थ हो सकते हैं, क्योंकि यह केवलज्ञान के विषयभूत अनंत पदार्थों को परोक्षरूप से ग्रहण कर लेता है।

द्वादशांग रूप जिनवाणी के सुनने या पढ़ने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; वह **भावश्रुत** कहलाता है और चौदह पूर्व व बारह अंगों को **द्रव्यश्रुत** कहा जाता है।

श्रुतज्ञान मात्र सांसारिक ज्ञान में ही उपयोगी नहीं है, अपितु आत्मज्ञान में भी उपयोगी है। आत्मानुभूति मतिश्रुतपूर्वक ही होती है।

ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय, मन, प्रकाश तथा उपदेश आदि बाह्य निमित्तों के सहयोग से उत्पन्न होते हैं, अतः परोक्ष कहलाते हैं।

श्रुतज्ञान मात्र सैनी पंचेन्द्रियों में ही नहीं होता; अपितु यह तो चारों गतियों के जीवों को होता है । यह ज्ञान जीव की अल्पविकसित निगोद दशा से लेकर पूर्ण विकसित सैनी पंचेन्द्रिय दशा में भी रहता है।

मति-श्रुतज्ञान में अंतर हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं –

मतिज्ञान	श्रुतज्ञान
1. यह सदा दर्शनोपयोगपूर्वक होता है।	1. यह मतिज्ञानोपयोगपूर्वक होता है।
2. मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है।	2. श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होता है।
3. मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होने का नियम नहीं है।	3. श्रुतज्ञान के पूर्व मतिज्ञान नियम से होता है।

इन्द्रिय और मन के निमित्त बिना जो ज्ञान सीधा आत्मा से ही द्रव्य, श्रेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है, उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं।

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक दूसरे के मन में स्थित रूपी विषय के स्पष्ट ज्ञान को **मनःपर्यय ज्ञान** कहते हैं।

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान के अन्तर को निम्नप्रकार समझ सकते हैं –

अवधिज्ञान	मनःपर्ययज्ञान
1. यह चारों ही गतियों में हो सकता है।	1. यह मात्र गर्भज कर्मभूमि पुरुष को ही होता है।
2. यह ज्ञान नरक गति व देव गति में जन्म से ही सभी को होता है।	2. यह ज्ञान मात्र ऋद्धिधारी किन्हीं मुनिराजों को ही हो सकता है।
3. यह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को हो सकता है।	3. यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि मुनिराजों को ही होता है।
4. यह पहले से बारहवें गुणस्थान तक हो सकता है।	4. यह छठवें से बारहवें गुणस्थान तक हो सकता है।
5. यह अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है।	5. यह मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है।

आत्मस्वरूप का अनुभव न करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के जो मति, श्रुत और अवधिज्ञान होते हैं – वे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाते हैं; क्योंकि मूलतत्व में विपरीत श्रद्धा होने से उसका ज्ञान मिथ्या होता है। अतः स्पष्ट है कि कुमति आदि भेद में लौकिक ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, इसलिए लौकिक ज्ञान यथार्थ होने पर भी जीव कुमति, कुश्रुत आदि का धारी हो सकता है।

मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान सम्यक् ही होते हैं। इसप्रकार ज्ञानोपयोग 8 प्रकार का होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि –

1. कुमति और कुश्रुत ज्ञान सभी मिथ्यादृष्टि संसारी जीवों के होते हैं।

2. कुअवधिज्ञान सभी मिथ्यादृष्टि देवों, देवियों और नारकियों के होता है।

किसी-किसी मनुष्य या तिर्यंच मिथ्यादृष्टि को भी कुअवधिज्ञान हो सकता है और किसी-किसी सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच को सुअवधिज्ञान हो सकता है।

3. मनःपर्ययज्ञान मुनि दशा में सभी तीर्थंकरों को और सभी गणधरों को नियम से होता है तथा किसी-किसी भावलिंगी ऋद्धिधारी मुनिराज को भी होता है।

4. केवलज्ञान सभी अरहंतों व सिद्धों को होता है।

उक्त आठों ज्ञानों में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं, अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान[1] हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इसके पश्चात् गाथा 6 में नयों के माध्यम से ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा जीव का स्वरूप समझाया है। ●

1. प्रत्यक्ष व परोक्ष की विशेष जानकारी के लिए लेखिका की अन्य कृतियाँ 'प्रमाणज्ञान-सम्यग्ज्ञान' और 'परीक्षामुख-प्रवेशिका' देखें।

गाथा 6

अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ।।6।।

पदविच्छेद – अट्ठ-चदु-णाण-दंसण, जीव-लक्खणं।

शब्दार्थ – ववहारा = व्यवहारनय से, अट्ठ = आठ (प्रकार के), णाणं = ज्ञान, चदु = चार(प्रकार के), दंसण = दर्शन को, सामण्णं = सामान्य, जीव = जीव का, लक्खणं = लक्षण, भणियं = कहा गया है, पुण = और, सुद्धणया = शुद्ध निश्चयनय से, सुध्दं = शुद्ध।

संदर्भ – जीव का स्वरूप व्यवहार व निश्चयनय के माध्यम से बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध दर्शन और ज्ञान को ही जीव कहा जाता है, तदपि व्यवहारनय से चार प्रकार के दर्शन और आठ प्रकार के ज्ञान को भी जीव कहा गया है।

व्याख्या – जो वस्तु को अनेक स्वभावों से पृथक् करके एक स्वभाव में स्थापित करता है, उसे नय कहते हैं अथवा जो अपर पक्ष (दूसरे पक्ष) का निषेध न करते हुए वस्तु के अंश का कथन करता है, उसे **नय** कहते हैं।

जिनागम में अनेक दृष्टियों से नयों के अनेक प्रकार से भेद किये गए हैं, उनमें से जो नय मूलरूप से आत्मा के स्वरूप को समझने-समझाने में ही काम आते हैं, उन्हें **अध्यात्म** के नय कहते हैं। यह दो प्रकार के होते हैं – निश्चय और व्यवहार।

निश्चयनय पर से भेद और अपने में अभेद करता है, व्यवहारनय पर से अभेद और अपने में भेद करता है। इसीलिए इस गाथा में अपने में भेद करने वाली परिभाषा को व्यवहारनय कहा व अपने में अभेद बताने वाले लक्षण को शुद्धनय से कहा है। 'शुद्धनय' निश्चयनय का ही एक भेद है।

इसके पश्चात् 7वीं गाथा में जीव की अन्य विशेषताओं को नयों के माध्यम से बताया जा रहा है। ●

गाथा 7

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।।7।।

पदविच्छेद – बंध+आदो।

शब्दार्थ – णिच्चया = निश्चयनय से, जीवे = जीवद्रव्य में, वण्ण = वर्ण, रस = रस, पंच = पाँच, गंधा = गंध, दो = दो, फासा = स्पर्श, अट्ठ = आठ, णो = नहीं, संति = होते, तदो = इसलिए (जीव), अमुत्ति = अमूर्तिक है, ववहारा = व्यवहार नय से (जीव को), बंध = कर्मबंधन, आदो = होने से, मुत्ति = मूर्तिक (कहा गया है)।

संदर्भ – जीव मूर्त है या अमूर्त? इसका समाधान नय अपेक्षा करते हुए इस गाथा में कहा है कि –

अर्थ – निश्चयनय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं; अतः जीव अमूर्तिक है। व्यवहारनय से जीव को कर्मबंधन होने से मूर्तिक कहा गया है।

व्याख्या – इस गाथा में जीव को कथंचित् मूर्त और कथंचित् अमूर्त कहा गया है। जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श पाया जाता है, उसे मूर्त कहते हैं और जो इन रूपादि गुणों से रहित होता है, उसे अमूर्त कहते हैं।

निश्चयनय की अपेक्षा विचार करें तो जीव अमूर्त ही है; क्योंकि रूप (वर्ण), रस, गंध और स्पर्श पुद्गल के गुण हैं, जीव के नहीं; किन्तु संसार दशा में मूर्तिक कर्मों के साथ उसका बंध होता है; अतः संयोग का ज्ञान कराने के लिए उसे व्यवहारनय से मूर्तिक कहा जाता है।

यदि निश्चयनय से भी जीव को मूर्तिक मानेगें तो जीव-अजीव का कोई भेद न रहने से जीव का ही अभाव सिद्ध हो जायेगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयनय जीव के त्रिकाली स्वरूप 'अमूर्तपना' को बतलाता है और व्यवहारनय पुद्गल कर्म के साथ का

अनादि संबंध बतलाता है।

सफेद, काला, पीला, लाल, हरा – यह वर्ण गुण की 5 पर्यायें हैं। चरपरा, कड़वा, कषायला, मीठा, खट्टा – यह रस गुण की पाँच पर्यायें हैं। सुगंध, दुर्गन्ध – ये गंध गुण की दो पर्यायें हैं। हल्का, भारी, रूखा, चिकना, ठंडा, गरम, नरम, कठोर – ये स्पर्श गुण की आठ पर्यायें हैं। इसप्रकार कुल मिलकर पुद्गल की 20 पर्यायें होती हैं; जिन्हें हम नीचे दिये गये चार्ट द्वारा समझ सकते हैं –

पुद्गल की 20 पर्यायें

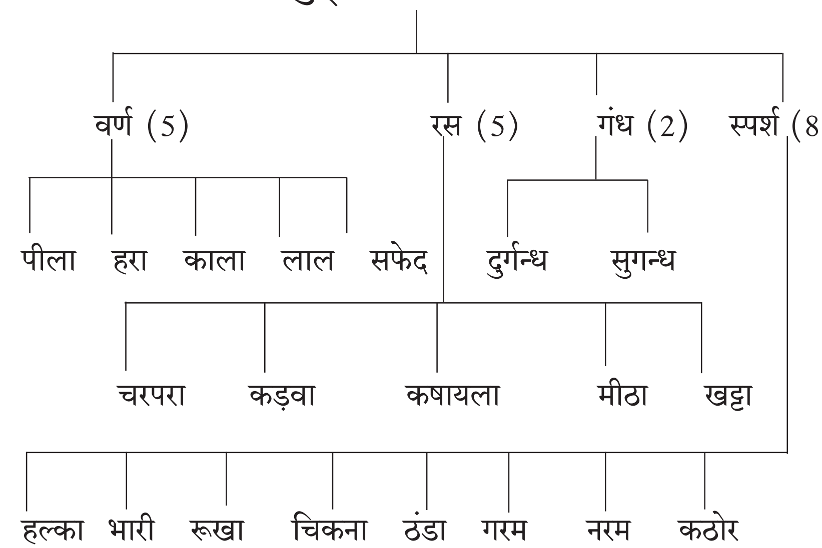

शब्द पुद्गल का गुण नहीं, पर्याय है; इसलिए उसे यहाँ नहीं लिया है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि तीसरी गाथा में पुद्गल प्राणों के साथ का व्यवहार संबंध बतलाया है और यहाँ पुद्गल कर्म के साथ का व्यवहार संबंध बतलाया है।

इसके पश्चात् 8 वीं गाथा में जीव के कर्तृत्व को नयों के माध्यम से बताया जा रहा है। ●

गाथा 8

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।।8।।

पदविच्छेद – पुग्गल –कम्म्+ आदीणं , चेदण+कम्मण्+आदा, सुध्द–भावाणं।

शब्दार्थ – ववहारदो = व्यवहारनय से, आदा = आत्मा (जीव), पुग्गल = पुद्गल, कम्मण = कर्म, आदीणं = आदि का, कत्ता = कर्ता है, दु = और, णिच्चयदो = (अशुद्ध) निश्चयनय से, चेदण = चेतन, कम्मणा = कर्मों का (कर्ता है), सुध्दनया = शुद्ध (निश्चय) नय से, सुध्द = शुद्ध (ज्ञान और शुद्ध दर्शनस्वरूप चैतन्यादि), भावाणं = भावों का (कर्ता है)।

संदर्भ – 'जीव को किस अपेक्षा से किसका कर्ता कहा जाता है' – यह बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – आत्मा निश्चयनय से चेतन कर्मों (भावकर्म) का कर्ता है, उसे शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्ता और व्यवहारनय से पुद्गल कर्मादि का कर्ता कहा है।

व्याख्या – इस गाथा में तीन नय कहे गए हैं – निश्चयनय, शुद्धनय और व्यवहारनय।

निश्चयनय के मूल दो भेद हैं –

अशुद्धनय (अशुद्ध निश्चयनय) और शुद्धनय (शुद्ध निश्चयनय)

शुद्धनय के तीन भेद हैं – एकदेश शुद्ध निश्चयनय, शुद्धनय (साक्षात् शुद्धनय) और परमशुद्ध निश्चयनय।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शुद्धनय के एक भेद का नाम भी शुद्धनय ही है और शास्त्रों में भी दोनों के लिए शुद्धनय का प्रयोग

ही अधिकांशतः मिलता है; किन्तु समझने में कन्फ्यूजन (असमंजस) न हो इसलिए मैं मूलभेद के लिए तो 'शुद्धनय' और उसके भेद के लिए दूसरा नाम 'साक्षात् शुद्धनय' का ही सर्वत्र प्रयोग करूँगी।

इसे हम निम्न चार्ट द्वारा आसानी से समझ सकते हैं –

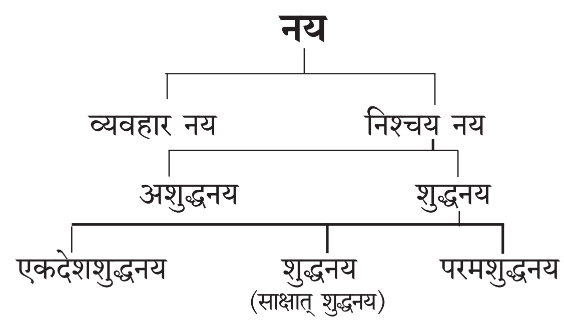

अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध चेतन भावों (भाव कर्म, राग, द्वेष आदि का) कर्त्ता–भोक्ता जीव को कहा जाता है। जैसे मैं रागी–द्वेषी हूँ।

एकदेश शुद्धनय से एकदेश शुद्धपर्यायों का कर्ता जीव को कहा जाता है। जैसे – मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।

पूर्ण शुद्धपर्यायों का कर्त्ता–भोक्ता शुद्धनय (साक्षात् शुद्धनय) से कहा जाता है। जैसे– वह केवलज्ञानी है।

इसप्रकार इस गाथा में कहे गए निश्चयनय से तात्पर्य अशुद्ध निश्चयनय से है और शुद्धनय से तात्पर्य एकदेश शुद्ध निश्चय व साक्षात् शुद्ध निश्चयनय दोनों से है; क्योंकि दोनों ही शुद्धपर्यायों को विषय बनाते हैं।

परमशुद्ध निश्चयनय से जीव को पर पर्यायों का अकर्त्ता–अभोक्ता कहा जाता है; क्योंकि यह नय पर्याय को नहीं, द्रव्य को अपना विषय बनाता है।

व्यवहार नय पर से अभेद करता है व अपने में भेद करता है। इसके

भी निम्न चार भेद हैं–

नय

- व्यवहार नय
  - असद्भूत
    - उपचरितअसद्भूत
    - अनुपचरितअसद्भूत
  - सद्भूत
    - उपचरितसद्भूत(अशुद्ध) (अशुद्ध सद्भूत)
    - अनुपचरितसद्भूत(शुद्ध) (शुद्ध सद्भूत)
- निश्चय नय

उपचरित असद्भूतनय से रोटी–मकान आदि संयोगों और पंचेन्द्रिय के विषयों का कर्ता–भोक्ता कहा जाता है। जैसे – 'मैं रोटी बनाती हूँ, मैं कार चलाता हूँ' आदि।

आठ कर्म व शरीर का कर्ता–भोक्ता अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है। जैसे – 'मैं व्यायाम से स्वस्थ रहता हूँ।'

प्रस्तुत गाथा में कहे गए स्पष्ट पुद्गल का कर्ता जीव उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है और पुद्गल रूप एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध वाले शरीर व कर्म का कर्ता अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि ज्ञान स्वभावी अमूर्त आत्मा पुद्गल, कर्म आदि परपदार्थों का कर्ता नहीं हैं; तदपि (फिर भी) उसे व्यवहारनय से कर्ता कहा जाता है। 'आदि' शब्द से सद्भूत व्यवहारनय के दोनों भेद भी इसमें सम्मिलित हो जाते हैं। उपचरित (अशुद्ध) सद्भूत व्यवहारनय से अशुद्ध पर्यायों का कर्ता कहा जाता है और अनुपचरित (शुद्ध) सद्भूत व्यवहारनय से शुद्ध पर्यायों का कर्ता कहा जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में जिन तीन नयों का उल्लेख किया गया है; उनमें अध्यात्म के आठों नय गर्भित हैं। इसके पश्चात् जीव के कर्तृत्व के समान भोक्तृत्व संबधी अपेक्षा को गाथा–9 में बताया जा रहा है।

●

गाथा 9

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पंभुजेदि।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।9।।

पदविच्छेद – सुह–दुक्खं, पुग्गल–कम्म्प्–फलं।

शब्दार्थ – ववहारा = व्यवहारनय से, आदा = आत्मा (जीव), सुह = सुख, दुक्खं = दुःखरूप, पुग्गलकम्म्प् = पुद्गलकर्म का, फलं = फल भोगता है, णिच्चयणयदो = निश्चयनय से, खु = नियमपूर्वक, आदस्स = आत्मा के, चेदणभावं = चैतन्यभाव को (भोगता है)।

संदर्भ – 'जीव को किस अपेक्षा से किसका भोक्ता कहा जाता है?' – यह बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – निश्चयनय से आत्मा अपने चेतनभाव को ही भोगता है और व्यवहारनय से उसे सुख–दुःखरूप पुद्गल कर्म के फल को भोगने वाला कहा जाता है।

व्याख्या – इस गाथा में मात्र 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' का कथन किया गया है। उसके प्रभेदों का नाम से उल्लेख नहीं किया गया है; अतः हम निश्चयनय के चारों भेदों और व्यवहारनय के चारों भेदों की अपेक्षा 'भोक्तापन' की स्थिति जानेंगे।

अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा अशुद्ध पर्यायों का भोक्ता कहा जाता है। एकदेश शुद्ध निश्चयनय से एकदेश शुद्ध पर्यायों का भोक्ता कहा जाता हैं। साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से पूर्ण शुद्ध पर्यायों का भोक्ता कहा जाता है और परमशुद्ध निश्चयनय से जीव पर और पर्यायों का अभोक्ता ही है।

व्यवहारनय की अपेक्षा कहा जाए तो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से इष्ट अनिष्ट पंचेन्द्रिय विषय जनित सुख–दुःख का भोक्ता कहा जाता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से शरीर व द्रव्यकर्म के साता–असाता उदय को भोगने वाला कहा जाता है। उपचरित सद्भूत व्यवहारनय से रागादि भावकर्म रूप अशुद्ध पर्यायों का भोक्ता कहा

जाता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पूर्ण विकसित निर्मल (शुद्ध) पर्यायों का भोक्ता कहा जाता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि व्यवहारनय के भेदों में अशुद्ध व शुद्ध पर्यायों में भेद स्थापित किया जाता है और निश्चयनय के भेदों में अशुद्ध व शुद्ध पर्यायों में अभेद स्थापित किया जाता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि जिसप्रकार जीव निश्चय से पर पदार्थों का कर्ता नहीं है; उसीप्रकार भोक्ता भी नहीं है। न वह पर में कुछ कर सकता है और न ही पर को भोग सकता है; अतः जीव परद्रव्यों का अकर्ता-अभोक्ता ही है; किन्तु जीव का निमित्तमात्रत्व बताने के लिए सुख-दुःखरूप बाह्य पदार्थों का कर्ता-भोक्ता भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न नयों से कहा जाता है।

इसके पश्चात् 10वीं गाथा में जीव के प्रदेशों के आकार के संबंध में बताया गया है। ●

कर्त्तापने की अपेक्षा

जड़ कर्म और शरीरादि रूप से परमाणु परिणमित होते हैं, उनको जीव नहीं परिणमाता, लेकिन वे परिणमित होते हैं, उसमें जीव का राग निमित्त है। इसलिए जीव को व्यवहार से उनका कर्ता कहा जाता है। व्यवहार से कर्ता कहा, वहाँ यथार्थ में कर्ता नहीं है- ऐसा उसमें आ जाता है, समावेश होता है। पर वस्तु में जीव का कर्तापना मानना अज्ञान है।

अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा शुभ-अशुभ रागादि रूप दया, दान, व्रत, हास्य, क्रोधादि चेतन कर्मों का कर्ता है, सुख-दुःख आदि का भोक्ता है।

एकदेश शुद्धनिश्चयनय से वह शुद्ध भावों का कर्ता है; और सिद्ध भगवान मुक्ति दशा में तो पूर्ण शुद्धनिश्चयनय से अनंत ज्ञानादि शुद्ध भावों के कर्ता हैं। उस पूर्ण ज्ञान में नय नहीं है, किंतु साधक नय द्वारा विचार करता है। – (वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग एक पृष्ठ 78-79)

गाथा 10

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥10॥

पदविच्छेद – अणु-गुरु-देहपमाणो, उवसंहार-सप्पदो।

शब्दार्थ – ववहारा = व्यवहारनय से, चेदा = जीव, उवसंहार = संकोच, सप्पदो = विस्तार के कारण, असमुहदो = समुद्घात अवस्था को छोड़कर, अणु = छोटे, गुरु = बड़े, देह = शरीर के, पमाणो = प्रमाण में (रहता है), वा = और, णिच्चयणयदो = निश्चयनय से, असंखदेसो = (वह लोकाकाश जितने) असंख्यात प्रदेशवाला है।

संदर्भ – 'निश्चय से जीव के कितने प्रदेश हैं व वे कितनी जगह घेरते हैं'- इस संबंध में नयों की अपेक्षा बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ – यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के जितने असंख्यात प्रदेश वाला है; किन्तु व्यवहारनय से जीव अपने संकोच-विस्तार स्वभाव के कारण समुद्घात अवस्था को छोड़कर छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण में रहता है।

व्याख्या – संख्या अपेक्षा से जीव के प्रदेश लोक प्रमाण असंख्यात ही रहते हैं, किन्तु संसार दशा में जीव का आकार एक-सा नहीं रहता। वे प्रदेश अपने कारण से संकोच-विस्तार को प्राप्त होते हैं। जीव के प्रदेशों का आकार संसार में शरीर के संबंध से होता है। इसलिए व्यवहारनय से शरीराकार कहा जाता है।

शरीर के आकार से छोटे-बड़े रूप होने पर भी जीव के असंख्यात प्रदेशों की संख्या उतनी की उतनी ही रहती है। किसी भी समय एक भी प्रदेश कम-बढ़ नहीं होता और वह दूसरे द्रव्य के प्रदेशों के साथ एकमेक भी नहीं हो सकता।

मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। उसके 7 भेद हैं – वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, विक्रिया समुद्घात, मारणांतिक समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात।

इसके पश्चात् 3 गाथाओं में नयविभागपूर्वक संसारी जीव का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

समुद्घात के भेद

तीव्र पीड़ा के अनुभव से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने को **वेदना समुद्घात** कहते हैं। कषाय की तीव्रता से जीव प्रदेशों का अपने शरीर से तिगुने प्रमाण फैलने को **कषाय समुद्घात** कहते हैं।

विक्रिया शरीर वाले देव और नारकी जीवों का अपने शरीर को छोटा-बड़ा या अन्य शरीर रूप करने के लिए आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाने को **वैक्रियक समुद्घात** कहते हैं। मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व नवीन पर्याय धारण करने के क्षेत्र पर्यंत आत्म प्रदेशों का बाहर निकल कर नवीन भव के क्षेत्र (स्थान) को स्पर्श करने को **मरणांतिक समुद्घात** कहते हैं। जिनके अनुबंध न हुआ हो, उन्हें मरणांतिक समुद्घात नहीं होता। जीवों के अनुग्रह और विनाश के लिए मुनिराज के कंधों से आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने को **तैजस समुद्घात** कहते हैं।

तैजस समुद्घात दो प्रकार का होता है – शुभ तैजस और अशुभ तैजस।

जगत को दुर्भिक्ष आदि कारणों से दुःखी देखकर जिनको दया उत्पन्न हुई है, ऐसे संयमी मुनिराज के मूल शरीर को न छोड़कर धवल रंग का पुरुषाकार पुतला दायें कंधे से निकलकर दुर्भिक्ष आदि दुःखदायी कारणों को दूरकर वापिस मुनिराज के शरीर में ही आकर समा जाता है। इसे ही **शुभ तैजस समुद्घात** कहते हैं।

अनिष्ट करने वाले कारण को देखकर जिनको क्रोध उत्पन्न हुआ है, ऐसे संयमी मुनिराज के मूल शरीर को न छोड़कर लाल रंग का बिलावाकार पुतला बायें कंधे से निकलकर अनिष्टकारक पदार्थ को भस्मकर वापिस मुनिराज के शरीर में ही समाकर (अधिक देर ठहर जाय तो) मुनिराज को भी भस्म कर देता है। इसे ही **अशुभ तैजस समुद्घात** कहते हैं।

परम ऋद्धिधारी मुनिराजों की शंका के समाधान, तीर्थों की वंदना और हिंसा से बचने के लिए मस्तक में से आहारक शरीर के निकलने को **आहारक समुद्घात** कहते हैं। जब सयोग केवली की आयुकर्म की स्थिति कम हो और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक हो तब अन्य कर्मों को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने हेतु आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने को **केवली समुद्घात** कहते हैं।

गाथा 11

पुढविजलतेयवाउ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ।।११।।

पदविच्छेद – पुढवि-जल-तेय-वाउ, विविह-थावरेइन्दी, विग-तिग-चदु-पंचक्खा, संख+आदि।

शब्दार्थ – पुढवि = पृथ्वी, जल = जल, तेय = अग्नि, वाउ = वायु, वणप्फदी = वनस्पति, विविह = अनेक प्रकार के, थावरेइन्दी = स्थावर, एकेन्द्रिय (जीव), संख = शंख, आदि = इत्यादि, विग = दो, तिग = तीन, चदु = चार, पंचक्खा = पाँच, इन्दी = इन्द्रिय, तसजीवा = (ये) त्रसजीव, होन्ति = हैं।

संदर्भ – इस गाथा में इन्द्रियों की अपेक्षा जीव के 2 भेद बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि विविध प्रकार के एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं और शंखादि दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रिय वाले त्रस जीव हैं।

व्याख्या – जीव की दो अवस्थायें होती हैं – संसारी और सिद्ध। संसारी जीवों के भी 2 भेद हैं – स्थावर और त्रस।

एकेन्द्रिय जीवों को '**स्थावर**' कहते हैं। ये 5 प्रकार के हैं – पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को **त्रस** कहते हैं। शंख, सीप, इल्ली (लट) आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। चींटी, खटमल, जूँ आदि तीन इन्द्रिय और भौंरा, मच्छर, मक्खी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रिय जीव 2 प्रकार के होते हैं। जिनकी चर्चा 12वीं गाथा में की जा रही है। ●

गाथा 12

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बाहरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ।।12।।

पदविच्छेद – बाहर- सुहमा+एइन्दि।

शब्दार्थ – पंचेन्दिय = पंचेन्द्रिय (जीव), समणा = मनसहित, अमणा = मनरहित, णेया = जानना चाहिए, परे सव्वे = शेष सब, णिम्मणा = मनरहित (जानना चाहिए), (उनमें) एइन्दि = एकेन्द्रिय (जीव), बाहर = बादर, सुहमा = सूक्ष्म, सव्वे = वे सब, पज्जत्त = पर्याप्त, य = और, इदरा = दूसरे अर्थात् अपर्याप्त होते हैं।

संदर्भ – पंचेन्द्रिय जीवों के भेद बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – पंचेन्द्रिय जीव मन सहित व मन रहित (संज्ञी व असंज्ञी) ऐसे दो प्रकार के जानना। शेष सब जीव मनरहित हैं । एकेन्द्रिय जीव बादर व सूक्ष्म दो प्रकार के हैं । ये सब जीव पर्याप्त व अपर्याप्त होते हैं।

व्याख्या – मन की उपस्थिति-अनुपस्थिति की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव के 2 भेद हैं – मन सहित जीव व मन रहित जीव।

मन सहित जीवों को संज्ञी या सैनी कहते हैं और मन रहित जीवों को असंज्ञी या **असैनी** कहते हैं।

संज्ञी-असंज्ञी – इन दो भेद वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होते हैं। नारकी, देव और मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष सभी चारों इन्द्रिय वाले जीव मनरहित ही होते हैं।

एकेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं – बादर और सूक्ष्म।

बादर एकेन्द्रिय जीव दूसरों को बाधा देते हैं और स्वयं बाधा को प्राप्त होते हैं। वे किसी पदार्थ के आधार से रहते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं । वे किसी को बाधा नहीं पहुंचाते और स्वयं किसी से बाधा को प्राप्त नहीं होते।

उक्त सभी जीव पर्याप्त[1] भी होते हैं और अपर्याप्त भी। जैसे मकान, कार, कपडे आदि वस्तुएँ पूर्ण और अपूर्ण होती हैं, वैसे ही जीव भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन ये छः पर्याप्तियाँ हैं। एकेन्द्रिय जीव के चार, दो इन्द्रिय से असंज्ञी तक के जीवों के पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छः पर्याप्तियाँ होती हैं।

उक्त कथन को निम्न चार्ट द्वारा भलीभांति समझा जा सकता है –

जीवों के होने वाली पर्याप्ति

जीव	पर्याप्ति	संख्या
1. एकेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास	4
2. विकलेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा	5
3. असंज्ञीपंचेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा	5
4. संज्ञीपंचेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन	6

एक अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण होती है। अपर्याप्त (लब्धि अपर्याप्त) जीव एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण करता है। निरोग पुरुष की एक बार नाड़ी चलने में जितना समय लगता है, उसे 'श्वास' कहते हैं। 48 मिनिट में 3773 श्वास होते हैं।

दस प्राणों की दृष्टि से विचार करें तो इन्द्रिय, काय और आयुष्य – ये तीन प्राण पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों को होते हैं। श्वासोच्छवास पर्याप्त को ही होता है। अपर्याप्त जीवों में संज्ञी व असंज्ञी – इन दोनों पंचेन्द्रियों को श्वासोच्छवास, वचनबल और मनोबल के बिना सात प्राण होते हैं और चार इन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक क्रम से एक-एक प्राण घटता है।

संक्षेप में हम कहें तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के सभी जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं; अतः कुल मिलाकर जीव के 14 भेद हो गए। इन 14 भेदों को 14 **जीवसमास** भी कहते हैं।

जिसके द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सकें, उसे जीवसमास कहते हैं।

चौदह जीवसमास

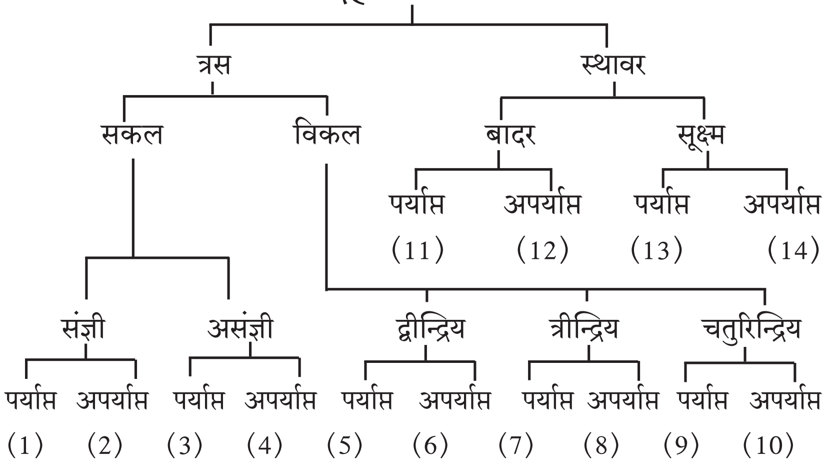

जीव में अन्य किन-किन दृष्टियों से भेद किये जा सकते हैं; उन्हें अन्य किन-किन रूपों में हम खोजते हैं' इन शंकाओं के समाधान आगामी 13वीं गाथा में किया जा रहा है। ●

> **अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का स्वरूप**
>
> चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक होने वाले सामान्य ज्ञान को **अवग्रह ज्ञान** कहते हैं। चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक अवग्रह में जाने हुये पदार्थ के सम्बन्ध में विशेष जानने के प्रयास को **ईहा ज्ञान** कहते हैं। ईहा में हुये प्रयास से किसी निश्चय पर पहुँच जाने को **अवाय ज्ञान** कहते हैं। अवाय ज्ञान से निर्णय पर पहुँच जाने पर उसे कालान्तर में नहीं भूलने को **धारणा ज्ञान** कहते हैं।
>
> उक्त सभी मतिज्ञान की क्रमशः विकसित होने वाली पर्याय हैं।
>
> – तत्त्वार्थसूत्र गाथा-15

गाथा 13

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।।13।।

पदविच्छेद – मग्गण-गुणठाणेहि।

शब्दार्थ – तह = तथा, संसारी = संसारी जीव, असुध्दणया = अशुद्धनय से, मग्गण = मार्गणास्थान, गुणठाणेहि = गुणस्थान (की अपेक्षा से), चउदसहिम् = चौदह प्रकार के, हवंति = होते हैं, सुध्दणया = शुद्ध निश्चयनय से, सव्वे = सभी (संसारी जीव), हु = वास्तव में, सुध्दा = शुद्ध, विण्णेया = जानना चाहिए।

संदर्भ – जीव के अन्य भेदों को बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – सभी संसारी जीव अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुणस्थान की अपेक्षा से चौदह-चौदह प्रकार के हैं। शुद्धनय से सभी संसारी जीव वास्तव में शुद्ध जानना चाहिए।

व्याख्या – जिन-जिन धर्म विशेषों से (भावों या पर्यायों द्वारा) जीवों का अन्वेषण किया जाता है, उन-उन धर्म विशेषों को **मार्गणा** कहते हैं। इसके 14 भेद हैं – गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार।

मोह और योग के सद्भाव या अभाव से जीव के श्रद्धा, चारित्र, योग आदि गुणों की तारतम्यतारूप अवस्था विशेष को **गुणस्थान** कहते हैं। जैनधर्म में वीतरागता को जीवन का चरम साध्य बतलाया गया है। उसके अनुसार वीतराग कहने में वीतद्वेष तो समाहित हो ही जाता है। जिसप्रकार जिसको रात्रि में पानी का त्याग है; उसे रात्रि में

भोजन का त्याग तो अवश्य ही होगा; उसी प्रकार जो वीतरागी हो गया, उसका द्वेष तो पहिले ही नष्ट हो जाता है। राग-द्वेष के समाप्त होने का एक क्रम है; जिन्हें उन्होंने १४ गुणस्थानों में बाँटा हैं। जो निम्न हैं – मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपराय, उपशांत मोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

उक्त 14 मार्गणास्थान व 14 गुणस्थान अशुद्धनय से ही जीव के कहे गए हैं; परम शुद्धनय से तो जीव पर्याय रूप है ही नहीं। परमशुद्धनिश्चय से तो जीव स्वभाव अपेक्षा सदा शुद्ध ही रहता है।

इसप्रकार जीव स्वभाव से शुद्ध होने पर भी वर्तमान पर्याय में 14 मार्गणास्थानरूप हो रहा है। वह वर्तमान पर्याय स्वयं के कारण होती हैं, वह पर्याय आश्रय योग्य नहीं, ध्यान का ध्येय नहीं। आश्रय योग्य, ध्यान का ध्येय तो त्रिकाली शुद्ध कारण स्वभाव हैं; क्योंकि शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही कार्य स्वभाव, सिद्ध पर्याय की प्राप्ति होती है।

संक्षेप में कहें तो इस गाथा में पर्याय स्वभाव व द्रव्यस्वभाव – दोनों का ज्ञान कराकर पर्याय का लक्ष्य छोड़कर द्रव्य का आश्रय करने की प्रेरणा दी जा रही है; क्योंकि उसी के आश्रय से कार्य शुद्ध हुआ जा सकता है, सम्पूर्ण दु:खों से मुक्त हुआ जा सकता है।

इसप्रकार इस गाथा में शुद्ध और अशुद्ध जीव की कथन की मुख्यता से कथन किया गया है। इसमें स्वभाव से शुद्ध अर्थात् कारण शुद्ध जीव की चर्चा है।

अब इसके पश्चात् 14वीं गाथा में कार्य शुद्ध जीव अर्थात् वर्तमान पर्याय में भी शुद्ध सिद्धों का वर्णन किया जा रहा है। ●

गाथा 14

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता।।14।।

पदविच्छेद – चरम-देहदो, लोयग्ग- ठिदा, उप्पाद-वयेहिम्।

शब्दार्थ – णिकम्मा = (ज्ञानावरणादि) अष्टकर्म रहित, अट्ठगुणा = (सम्यक्त्वादि) अष्टगुण सहित, चरम = अन्तिम, देहदो = शरीर से, किंचूणा = कुछ न्यून, लोयग्ग = लोक के, ठिदा = अग्रभाग में स्थित, णिच्चा = ध्रुव, उप्पाद = उत्पाद, वयेहिम् = व्यय से, संजुत्ता = सहित (जीव), सिध्दा = सिद्ध है।

संदर्भ – सिद्धों की विशेषता बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों के धारक हैं, अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद व्यय से युक्त हैं।

व्याख्या – तेरहवीं गाथा में संसारी जीव का स्वरूप कहा था। यहाँ चौदहवीं गाथा में सिद्धदशा का वर्णन किया गया है। सिद्धों के समस्त कर्मों के नाश होने से अनन्त गुण अपने स्वाभाविक रूप में प्रगट हो गए हैं, किन्तु अनन्त गुण तो गिनाए या बताए नहीं जा सकते; अतः आठ गुणों का वर्णन मुख्यतः से किया गया है। वे आठ गुण निम्न हैं – अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व।

उक्त आठ गुण आठ कर्मों के अभाव होने पर प्रगट होते हैं। जिनमें ज्ञानावरणीय के अभाव होने पर अनंतज्ञान (केवलज्ञान), दर्शनावरणीय के अभाव से अनंतदर्शन, मोहनीय के अभाव से क्षायिक सम्यक्त्व,

अंतराय के अभाव से अनंतवीर्य, नामकर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयुकर्म के अभाव से अवगाहनत्व, गोत्रकर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व, वेदनीय के अभाव से अव्याबाधत्व अनंतसुख प्रगट होता है।

यद्यपि जीव द्रव्य होने से सिद्धों में भी पूर्व पर्याय का व्यय और नवीन पर्याय का उत्पाद होता है; पर नई पर्याय पहली जैसी ही उत्पन्न होती है, अतः उनकी सुख पर्याय नित्य है; कभी समाप्त नहीं होने वाली है।

समस्त कर्मों से रहित होने के कारण आप पूर्ण सुखी हैं, जबकि कर्मों से लिप्त होने के कारण संसारी जीव दुःखी रहते हैं, आप शरीर से भी रहित हैं और अंतिम शरीर से कुछ न्यून आकार सहित लोक के अग्र भाग में स्थित हैं। अतः अब आप पुनः संसार में जन्म नहीं लेंगे, कभी दुःखी नहीं होंगें।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मुनि श्री नेमिचन्द्र ने गाथा 2 में जीव के जिन विभिन्न रूपों के नाम बताए थे, उन सभी रूपों का निश्चय-व्यवहार पूर्वक विस्तार से वर्णन 12 गाथाओं में कर दिया है।

संसार में जीवों को जिन-जिन रूपों में हम देखते हैं, वे सभी रूप तथा मुक्त होने पर उनकी जो नित्य सुखी अवस्था होती है – उसका स्वरूप इन गाथाओं द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

यद्यपि अजीवद्रव्य हेय हैं, फिर भी उनके वर्णन की उपयोगिता बताते हुए टीकाकार मुनि ब्रह्मदेवजी कहते हैं कि हेयतत्त्व का परिज्ञान होने पर उपादेय तत्त्व को स्वीकार होता है। इस कारण से आगामी गाथाओं में अजीव द्रव्यों का वर्णन उपयुक्त है।

इसप्रकार जीवद्रव्य का सर्वांगीण वर्णन करने के पश्चात् 15वीं गाथा से 27वीं गाथा तक की 13 गाथाओं में अजीव द्रव्य का वर्णन किया गया है।

●

3. अजीव द्रव्य

(i) पुद्गल द्रव्य

गाथा 15

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु॥१५॥

पदविच्छेद – रूवादि+गुणो।

शब्दार्थ – पुण = और, पुग्गल = पुद्गल, धम्मो = धर्म, अधम्म = अधर्म, आयासं = आकाश, कालो = काल, अज्जीवो = अजीव द्रव्य, णेओ = जानना चाहिए, पुग्गल = पुद्गल द्रव्य, रूवादि = रूपादि, गुणो = गुणवाला, मुत्तो = मूर्तिक है, दु = और, सेसा = शेष द्रव्य, अमुत्ति = अमूर्तिक, अरूपी = हैं।

संदर्भ – अजीव द्रव्यों के नाम और पुद्गल का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये अजीव द्रव्य जानना। रूपादि गुण वाला पुद्गल मूर्तिक है और शेष (चार) अमूर्त हैं।

व्याख्या – छहों द्रव्यों में जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं। अजीव द्रव्यों में पुद्गल मूर्तिक है और शेष चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव को मिलाकर कुल पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं।

जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हों वह मूर्तिक है। यह गुण पुद्गल में ही है, अतः वही मूर्तिक है। मूर्त ही आखों से दिखाई देता है, अतः आखों से दिखने वाली हर वस्तु पुद्गल है।

इसके पश्चात् 16वीं गाथा में पुद्गल की पर्यायों का वर्णन किया गया है।

●

गाथा 16

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।१६।।

पदविच्छेद– उज्जोद्+आदव-सहिया।

शब्दार्थ – सद्दो = शब्द, बंधो = बंध, सुहुमो = सूक्ष्म, थूलो = स्थूल, संठाण = आकार, भेद = खंड, तम = अंधकार, छाया = छाया, उज्जोद् = उद्योत, आदव = आतप, सहिया = सहित, पुग्गलदव्वस्स = पुद्गल द्रव्य की, पज्जाया = पर्यायें हैं।

संदर्भ – इस गाथा में पुद्गल द्रव्य की पर्यायों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

व्याख्या – पर्याय दो प्रकार की होती है – द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय। द्रव्य पर्याय को व्यंजनपर्याय और गुण पर्याय को अर्थपर्याय[1] भी कहते हैं।

प्रदेशात्मक आकारों को तथा जीव-पुद्गल की संयोगी अवस्थाओं को व्यंजनपर्याय कहते हैं।

व्यंजन पर्यायें भी 2 प्रकार की होती हैं – स्वभाव व्यंजन पर्याय और विभाव व्यंजन पर्याय।

सब द्रव्यों की अपने अपने प्रदेशों की स्वाभाविक स्थिति ही उस-उस द्रव्य की स्वभाव पर्याय है। जैसे – पुद्गल परमाणु पुद्गल द्रव्य की स्वभाव व्यंजन पर्याय है और कर्मोपाधि रहित सिद्धों की पर्यायें जीव द्रव्य की स्वभाव व्यंजन पर्याय है।

परद्रव्य के संबंध से उत्पन्न होने वाली जीव द्रव्य की अशुद्ध पर्यायें विभाव व्यंजन पर्यायें हैं। इसीप्रकार पुद्गल के स्कन्धरूप परिणाम विभाव व्यंजन पर्याय हैं।

1. पर्यायों के भेदों के बारे में जानने के इच्छुक जन लेखिका की अन्य कृति 'जैनदर्शनसार' के पृ. 55 से 59 का अवलोकन करें।

इस गाथा में विभाव व्यंजन पर्याय का ही कथन किया गया है।

1. शब्द – जो कान से सुना जाए, उसे शब्द कहते हैं अथवा श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ध्वनि ही शब्द है। शब्द दो प्रकार के होते हैं – भाषात्मक और अभाषात्मक।

(i) भाषात्मक शब्द – जो मुख से उत्पन्न हो, उसे भाषात्मक शब्द कहते हैं। भाषात्मक शब्द के भी दो भेद हैं– अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक।

(क) अक्षरात्मक – मुख से निकलने वाले जो शब्द अक्षर, पद, वाक्यरूप हैं; उसे **अक्षरात्मक** या **वर्णात्मक** भी कहते हैं। अक्षरात्मक भाषा अनेक प्रकार की है – जैसे संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी आदि।

(ख) अनक्षरात्मक –अनक्षरात्मक भाषा सर्वज्ञ देव की दिव्य ध्वनि में और दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक सभी जीवों के तथा कुछ पंचेन्द्रिय जीवों के भी होती है।

(ii) अभाषात्मक शब्द – जो दो वस्तु के आघात से उत्पन्न हो, उसे **अभाषात्मक** शब्द कहते हैं। यह शब्द उत्पन्न होने में प्राणी व जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं। अभाषात्मक शब्द के भी दो भेद हैं – प्रायोगिक और वैस्रसिक।

(क) प्रायोगिक – जिस शब्द के उत्पन्न होने में पुरुष निमित्त हो, वह **प्रायोगिक** भाषा है। प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं – तत, वितत, घन और सुषिर।

वीणा आदि के शब्द को 'तत' कहते हैं।

ढोल आदि के शब्द को 'वितत' कहते हैं।

मंजीरा आदि की ध्वनि को 'घन' कहते हैं।

बंशी आदि के शब्द को 'सुषिर' कहते हैं।

(ख) वैस्रसिक – जो पुरुष की अपेक्षा के बिना स्वभावरूप उत्पन्न हो, वह **वैस्रसिक** है। बादलों आदि के द्वारा स्वभाव से होने वाले शब्द 'वैस्रसिक' कहलाते हैं। वे अनेक प्रकार के होते हैं।

बंध – बंध अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे – पुद्गल बंध, द्रव्य बंध, भाव बंध आदि।

पुद्गल का पुद्गल से बंधना ही पुद्गल बंध है। जैसे – ईंट, सीमेंट से घर बनाना आदि।

आठ कर्मों का बंध द्रव्य बंध है। रागादि रूप बंधना भाव बंध है। इसप्रकार कर्म-नोकर्म रूप जो बंध होता है, वह जीव पुद्गल के संयोगरूप बंध है।

सूक्ष्म और स्थूल – पुद्गल का छोटे से छोटा अंश परमाणु सूक्ष्म होता है और तीन लोक में व्याप्त महास्कंध सबसे अधिक स्थूल होता है। शेष सबमें अपेक्षा से – सूक्ष्म स्थूलपना होता है। जैसे – मौसम्बी से नींबू सूक्ष्म है और तरबूज स्थूल है व बेर से नींबू स्थूल है।

संस्थान – संस्थान आकार को कहते हैं। इसके छः भेद हैं – समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्ज, वामन, और हुंडक। यह आकार सभी पुद्गल में ही होते हैं। जैसे – गोल, त्रिकोण आदि सभी अनेक प्रकार के पुद्गल के आकार होते हैं।

तम – दृष्टि को रोकने वाले अंधकार को 'तम' कहते हैं।

छाया – वृक्षादि के आश्रय से होने वाले मनुष्यादि की प्रतिच्छाया (परछांई) को छाया कहते हैं।

उद्योत – चन्द्रमा के विमान में व जुगनू आदि में जो जो प्रकाश होता है, उसे उद्योत कहते हैं।

आतप – सूर्य के विमान में व सूर्यकांत मणि आदि विशेष प्रकार के पृथ्वीकाय में जो प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं।

इसप्रकार पुद्गल द्रव्य के गुण व पर्यायों की चर्चा के पश्चात् अब आगामी 17 वीं गाथा में धर्म द्रव्य का वर्णन किया जा रहा है। ●

(ii) धर्मद्रव्य

गाथा 17

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तो यं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।।17।।

पदविच्छेद – गइ-परिणयाण, पुग्गल-जीवाण, गमण- सहयारी।

शब्दार्थ – गइ = गति में, परिणयाण = परिणमित, पुग्गल = पुद्गल, जीवाण = जीवों को, गमण = चलने में, सहयारी = सहायक, धम्मो = धर्मद्रव्य है, जह = जैसे, मच्छाणं = मछलियों को (चलने में), तोयं = पानी (सहायक है किन्तु), सो = वह (धर्मद्रव्य), अच्छंता = नहीं चलते हुओं को, णेव णेई = नहीं चलाता।

संदर्भ – धर्म द्रव्य का स्वरूप उदाहरण पूर्वक समझाते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – गति में परिणमित पुद्गल और जीवों को चलने में सहायक धर्म द्रव्य है, किंतु वह धर्म द्रव्य नहीं चलते हुओं को नहीं चलाता। जैसे मछलियों को चलने में पानी सहायक है, किंतु नहीं चलती मछलियों को पानी जबरदस्ती नहीं चलाता। मुसाफिर को ट्रेन व प्लेन आने-जाने में उदासीन सहायक हैं, लेकिन सफर नहीं करने वाले को वह जबरदस्ती सफर नहीं कराते।

व्याख्या – गति निमित्तता धर्म द्रव्य का विशेष गुण है। जो जीव व पुद्गलों को क्षेत्र से क्षेत्रांतर गमन करने में उदासीन निमित्त है अर्थात् स्वयमेव गमन करते हुए जीव और पुद्गल की गति में निमित्त धर्म द्रव्य है। जैसे मछली जब चलेगी, तब पानी में ही चलेगी बिना पानी के वह चल नहीं सकती; पर पानी उसे जबरदस्ती चलाता भी नहीं है। पानी तो मछली के चलने में उदासीन निमित्त है। मुसाफिर जब सफर करेंगें; तब प्लेन-ट्रेन आदि किसी न किसी साधन से ही करेंगे; किन्तु वे साधन उन्हें जबरदस्ती सफर को मजबूर नहीं करते; अतः वे उदासीन निमित्त हैं।

इसके पश्चात् 18वीं गाथा में अधर्म द्रव्य का वर्णन किया गया है। ●

(iii) अधर्मद्रव्य
गाथा 18

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।18।।

पदविच्छेद – पुग्गल-जीवाण, ठाण-सहयारी

शब्दार्थ – ठाणजुदाण = स्थिर हुए, पुग्गल = पुद्गल, जीवाण = जीव द्रव्यों को, ठाण = स्थिर रहने में, सहयारी = सहकारी, अधम्मो = अधर्मद्रव्य है, जह = जैसे, पहियाणं = मुसाफिरों को, छाया = छाया (किन्तु), सो = वह (अधर्मद्रव्य), गच्छंता = चलते हुए (जीव और पुद्गल द्रव्यों को), णेव धरई = स्थिर नहीं रखता।

संदर्भ – अधर्म द्रव्य का स्वरूप उदाहरण पूर्वक समझाते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – स्थिर हुए पुद्गल और जीव द्रव्यों को स्थिर रहने में सहकारी अधर्म द्रव्य है; किंतु वह अधर्म द्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों को स्थिर नहीं करता है। जैसे – छाया यात्रियों की स्थिति में सहकारी है।

व्याख्या – स्थिति में उदासीन निमित्त होना अधर्म द्रव्य का विशेष गुण है। जिसप्रकार पेड़ मुसाफिर को जबरदस्ती अपने नीचे रुकने को नहीं कहते, पर चलते हुए मुसाफिर स्वयं ही छाया देखकर वहाँ रुक जाते हैं; उसीप्रकार अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को रुकने के लिए नहीं कहता; पर गति पूर्वक स्थिति करते हुए जीव-पुद्गलों की स्थिति में वह उदासीन निमित्त होता है।

इसके पश्चात् आकाश द्रव्य का स्वरूप 19वीं गाथा में बताया जा रहा है। ●

(iv) आकाशद्रव्य
गाथा 19

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।।19।।

पदविच्छेद – अवगासदाण-जोग्गं, जीव+ आदीणं, अल्लोगागासम्+इदि।

शब्दार्थ – जीव = जीव, आदिणं = आदि द्रव्यों को, अवगासदाण = अवकाशदान के, जोग्गं = योग्य, जेण्हं = जिनेन्द्र भगवान के द्वारा दर्शित, आयासं = आकाशद्रव्य, वियाण = जानना चाहिए (यह आकाश द्रव्य), लोगागासं = लोकाकाश, अल्लोगागासं = अलोकाकाश, इदि = ऐसे, दुविहं = दो प्रकार का है।

संदर्भ – आकाश द्रव्य का स्वरूप व भेद बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने के योग्य है, वह आकाश द्रव्य है। यह दो प्रकार का होता है – लोकाकाश और अलोकाकाश। उक्त सभी कथन जिनेन्द्र देव की वाणी में आए हैं।

व्याख्या – 'जेणहं' अर्थात् 'जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गए' यह कथन 'अंत दीपक' का काम करेगा। अतः अर्थ होगा कि – जो मैं अभी तक जीवादि द्रव्यों का स्वरूप बता रहा हूँ, वह मेरी कपोल कल्पना नहीं है। मैं जो भी वर्णन कर रहा हूँ, जिनेन्द्र देव की वाणी के अनुसार ही कर रहा हूँ।

आकाश द्रव्य छहों द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त है। यह एक सर्वव्यापी अखंड द्रव्य है; किंतु धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों के रहने की अपेक्षा आकाश के दो भेद हो जाते हैं। – इन दोनों भेदों के स्वरूप को ही 20वीं गाथा में बताया जा रहा है। ●

गाथा 20

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ।।20।।

पदविच्छेद – धम्मा+अधम्मा, पुग्गल-जीवा, लोग+उत्तो।

शब्दार्थ – जावदिये = जितने, आयासे = आकाश में, धम्म = धर्मद्रव्य, अधम्मा = अधर्मद्रव्य, कालो = कालद्रव्य, य = और, पुग्गल = पुद्‍गल द्रव्य, जीवा = जीव द्रव्य, संति = रह रहे हैं, सो = वह, लोगो = लोकाकाश (कहलाता है), तत्तो = उस (लोकाकाश से), परदो = दूसरे, अलोग = अलोकाकाश, उत्तो = कहलाता है।

संदर्भ – लोकाकाश और अलोकाकाश का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – जीव, पुद्‍गल, धर्म, अधर्म और काल – ये पाँच द्रव्य जितने आकाश में रहते हैं, वह लोकाकाश है; उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।

व्याख्या – जितने स्थान में सभी द्रव्य रहते हैं, वह लोकाकाश है। लोक के तीन भाग हैं, जिन्हें तीन लोक भी कहते हैं – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक।

लोकाकाश के बाहर अनंत अलोकाकाश है। जहाँ आकाश को छोड़कर शेष द्रव्य नहीं रहते।

लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है, इसमें अनंत जीव रहते हैं। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर असंख्यात कालाणु रहते हैं। जीव से अनंतगुणे पुद्‍गल रहते हैं तथा धर्म, अधर्म द्रव्य भी समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं।

आकाश द्रव्य की विशिष्ट अवकाश दान शक्ति से उपरोक्त अनंत

द्रव्य उसीप्रकार लोकाकाश में समा जाते हैं; जिसप्रकार एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है।

आकाश द्रव्य अमूर्त है, अतः अमूर्त आकाश में अमूर्त जीव, धर्म, अधर्म और बहुभाग (अधिकांश) पुद्‍गल सूक्ष्म रूप में आकाश में व्याप्त हैं।

इसके पश्चात् 21वीं गाथा में काल द्रव्य का स्वरूप व भेद बताए जा रहे हैं। ●

छह द्रव्य

छहों द्रव्यों में कर्त्ता द्रव्य एक जीव ही है। जीव और पुद्‍गल दो ही द्रव्य परिणामी हैं, क्रिया सहित हैं। जीव चेतन और अमूर्तिक है तथा पुद्‍गल द्रव्य अचेतन और मूर्तिक है।

धर्म, अधर्म और आकाश – ये तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक हैं। नित्य द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये चार द्रव्य हैं। जीव को छोड़कर पाँचों द्रव्य आश्रय करने योग्य नहीं हैं। ये छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य अवकाश देते हैं, दूध-पानी की तरह परस्पर मिल जाते हैं – इसप्रकार इनमें अत्यन्त संकर (मिश्रितपना) होने पर भी ये अन्य द्रव्यों से एकत्व को प्राप्त नहीं होते तथा ये अपने-अपने निश्चित स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होते; इसलिए परिणाम स्वभाववाले होने पर भी वे नित्य हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का वर्णन एकमात्र जैनदर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द दर्शन, मत, सिद्धान्त, आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित हैं, परन्तु उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं। जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भाँति व्याप्त हैं। जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्‍गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जैन तत्त्व के प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश रहा है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इस जीव के लिए न तो दुःख के कारण ही हैं और न सुख के। यही कारण है कि इनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है।

(v) कालद्रव्य

गाथा 21

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो।।21।।

पदविच्छेद – दव्व–परिवट्ट–रूवो, परिणाम–आदी–लक्खो, वट्टण–लक्खो।

शब्दार्थ – दव्व = द्रव्य, परिवट्ट = परिवर्तन (मिनट, घण्टा, दिन, महीना इत्यादि), रूवो = रूप है, परिणाम = परिणमन, आदी = आदि, लक्खो = लक्षणों से (जाना जा सकता है), सो = वह, ववहारो = व्यवहार, कालो = काल, हवेइ = है, य = और, वट्टण = वर्तना, लक्खो = लक्षण वाला, परमट्ठो = परमार्थ (काल) है।

संदर्भ – काल द्रव्य का स्वरूप नयों के अनुसार बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – जो द्रव्यों के परिणमन रूप है और परिणाम आदि से जाना जाता है, वह व्यवहार काल है और वर्तनायुक्त काल निश्चय काल है।

व्याख्या – जगत के पदार्थों की स्थिति को व्यवहार काल कहते हैं। जैसे- जीव मनुष्य पर्याय में इतने काल रहा – यह व्यवहार काल है। व्यवहार काल पर्याय अथवा द्रव्य को नहीं बताता है। पर्याय बदलती है, व्यवहार काल नहीं; परंतु पर्याय की स्थिति का माप व्यवहार काल है।[1] जीव पुद्‌गल आदि सभी द्रव्यों में पूर्व पर्याय का नाश और नवीन पर्याय का उत्पाद होता है इन्हीं पर्यायों की मिनट, घंटा, दिन, महीना आदि स्थिति को व्यवहार काल कहते हैं। पदार्थों में होने वाले परिवर्तन से हमें काल (समय) का बदलना पता चल जाता है। इसप्रकार इस गाथा में काल द्रव्य का सामान्य स्वरूप बताया गया है। इसके पश्चात् 22वीं गाथा में काल द्रव्य का विशेष स्वरूप बताया जा रहा है। ●

1. वृहद्‌द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग–1; पृष्ठ–257

गाथा 22

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।22।।

पदविच्छेद – लोयायास–पदेसे, इक्क+ इक्के, इक्क+ इक्का, असंख+ दव्वाणि।

शब्दार्थ – इक्क = एक, इक्के = एक, लोयायास = लोकाकाश के, पदेसे = प्रदेश पर, जे = जो, इक्क = एक, इक्का = एक, कालाणू = कालाणु, रयणाणं = रत्नों की, रासी = राशि की, इव = भाँति, ठिया = रहते हैं, ते = वे कालाणु, असंख = असंख्य, दव्वाणि = द्रव्य हैं।

संदर्भ – इस गाथा में काल के प्रदेशों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – कालाणु असंख्य द्रव्य हैं। वे एक–एक कालाणु लोकाकाश के एक–एक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भांति पृथक्–पृथक् रहते हैं।

व्याख्या – कालाणु आदि अंत रहित है, स्पर्शादिगुण उसमें नहीं हैं, नित्य है, समय आदि पर्यायों का उपादान कारण है; फिर भी समय, घड़ी आदि का भेद कालाणु में नहीं पड़ता है। इसलिए वह निश्चयकाल है, रत्न की राशि के समान लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक–एक कालाणु स्थित है। जिसप्रकार रत्नों का ढेर करने पर भी प्रत्येक रत्न अलग–अलग रहता है; उसीप्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक–एक कालाणु अलग–अलग है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं, ऐसे असंख्य प्रदेशों पर असंख्य कालाणु हैं। इन कालाणुओं के निमित्त से सभी द्रव्यों की अवस्था बदलती है। निश्चयकाल की पर्याय स्वरूप व्यवहार काल है।[1] जब एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मंदगति से जाए तो एक समय लगता है– यही काल की पर्याय है। प्रति समय की यह पर्याय न तो निश्चयकाल है, न ही व्यवहार काल। वह तो स्वयं पर्याय है, पर्याय की स्थिति आंकना काल है और वह व्यवहारकाल है।[2] इसके पश्चात् 23वीं गाथा में छह द्रव्यों के कथन का उपसंहार किया जा रहा है। ●

1. वृहद्‌द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग–1; पृष्ठ–264   2. वहीं पृ.–258

(vi) पाँच अस्तिकाय

गाथा 23

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ।।23।।

पदविच्छेद – छब्भेयम्+इदं, जीव+अजीवप्प-भेददो, काल+विजुत्तं।

शब्दार्थ – एवं = इसप्रकार, जीव = जीव, अजीवप्प = अजीव के, भेददो = भेदो से, इदं = यह, दव्वं = द्रव्य, छब्भेयं = छह प्रकार, उत्तं= कहे गये हैं, दु = उनमें, काल = कालद्रव्य को, विजुत्तं = छोड़कर, पंच = पाँच, अत्थिकाया = अस्तिकाय, णायव्वा = जानना चाहिए।

संदर्भ – द्रव्यों का अन्य अपेक्षा से वर्णन करते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ – पूर्व गाथाओं में छह द्रव्यों को जीव व अजीव इन दो भेदों में समझाया गया है। इन्हीं छहों द्रव्यों में काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्यों को पंचास्तिकाय जानना चाहिए।

व्याख्या – मंगलाचरण की गाथा में चेतनता की उपस्थिति व अनुपस्थिति के आधार पर द्रव्यों को दो भागों में विभाजित किया था - जीव व अजीव। इस गाथा में उन्हीं द्रव्यों को प्रदेश की अपेक्षा अस्तिकाय और अनस्तिकाय में बाँटा गया है। इनमें काल द्रव्य 'अनस्तिकाय' है और शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश यह पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं; क्योंकि लोक में उक्त पाँचों ही द्रव्य विद्यमान हैं, इसलिए इनको 'अस्ति' तथा शरीर के समान बहुप्रदेशी होने से इन्हें 'काय' कहते हैं। दोनों मिलकर 'अस्तिकाय' होते हैं। जो बहुत प्रदेशों में व्याप्त रहता है, उसे 'काय' कहते हैं। जैसे- अनंत परमाणुओं का पिण्ड होने से शरीर को 'काय' कहा जाता है।

इसके पश्चात् 24वीं गाथा में अस्तिकाय का स्वरूप बताया जा रहा है। •

गाथा 24

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य।।24।।

पदविच्छेद – तेण+एदे, अत्थि+इति।

शब्दार्थ – जदो = क्योंकि, एदे = यह (पाँच अस्तिकाय), संति = हैं, तेण = इसलिए, जिणवरा = जिनेन्द्र भगवान, अत्थि = अस्ति, इति = ऐसा, भणंति = कहते हैं, जम्हा = क्योंकि, काया = काय की, इव = भाँति, बहुदेसा = बहुप्रदेशी हैं, तम्हा = इसलिए, काया = वे काय(कहलाते हैं), य = और (वे एकत्रित होकर), अत्थिकाया = अस्तिकाय कहलाते हैं।

संदर्भ – इस गाथा में अस्तिकाय का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि -

अर्थ – क्योंकि वे 'हैं', अतः जिनेन्द्रदेव ने इन्हें 'अस्ति' कहा है और ये काय की तरह 'बहुप्रदेशी' हैं, अतः इनको 'काय' कहा है। वे दोनों मिलकर 'अस्तिकाय' कहलाते हैं।

व्याख्या – इस गाथा में अस्तिकाय के स्वरूप को शाब्दिक अर्थ द्वारा बताया गया है। काल को छोड़कर पाँचों द्रव्य काय की तरह बहुप्रदेशी हैं, इसलिए पाँचों द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहा जाता है। चूँकि कालाणु एक-एक प्रदेश वाला है, इसलिए उसमें कायपना नहीं है, अतः वह 'अस्तिकाय' नहीं है। एक प्रदेश को अप्रदेशी भी कहा जाता है। इसप्रकार इस गाथा में अस्तिकाय-अनस्तिकाय का सामान्य कथन किया गया है।

इसके पश्चात् 25वीं गाथा में 'काय' और छहों द्रव्यों के प्रदेशों के संबंध में विशेष चर्चा की जा रही है। •

(a) प्रदेशों की संख्या

गाथा 25

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ।।25।।

पदविच्छेद – धम्म+अधम्मे, कालस्स+ एगो।

शब्दार्थ – जीवे = (एक)जीव में, धम्म = धर्म, अधम्मे = अधर्म द्रव्यों में, असंखा = असंख्यात , आयासे = आकाश द्रव्य में, अणंत = अनंत, मुत्ते = पुद्‌गल में, तिविह = तीन प्रकार के (अर्थात् संख्यात, असंख्यात और अनन्त), पदेसा = प्रदेश हैं, कालस्स = काल द्रव्य का, एगो = एक प्रदेश है, तेण = इसलिए, ण = नहीं, सो = वह, काओ = कालद्रव्य (वह कालद्रव्य कायवान नहीं है)।

संदर्भ – किस द्रव्य में कितने प्रदेश हैं? यह बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ – जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्य प्रदेश हैं। आकाश के अनंत प्रदेश हैं। मूर्त द्रव्य में तीन प्रकार के प्रदेश हैं और काल का एक प्रदेश है; अतः वह काय नहीं है।

व्याख्या – दीपक के समान संकोच और विस्तारयुक्त एक जीव के प्रदेश समस्त लोकाकाश में फैल सकते हैं। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, इसलिए जीव भी असंख्यात प्रदेशी है। कंदमूल के एक शरीर में अनन्त जीव हैं, प्रत्येक जीव असंख्यप्रदेशी है। हाथी अथवा चींटी की पर्याय में भी असंख्यप्रदेश समान हैं तथा केवली समुद्घात के काल में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त केवली भगवान के भी असंख्य प्रदेश हैं।

धर्म, अधर्म द्रव्य भी तिल में तेल की भांति भरे (फैले) हुए हैं, इसलिए यह दोनों द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी हैं। इनमें संकोच-विस्तार नहीं होता।

आकाश के अनंत प्रदेश हैं, क्योंकि वह लोकाकाश के बाहर भी है, उसकी कोई मर्यादा नहीं है।

यद्यपि पुद्‌गल द्रव्य के अनंत परमाणु हैं; तथापि एक परमाणु अलग भी होता है और छोटे-बड़े स्कंध रूप भी होता है। इस कारण से पुद्‌गल के तीन प्रकार (संख्यात, असंख्यात तथा अनंत प्रदेश) भी कहे जाते हैं। यद्यपि परमाणु एकप्रदेशी है, तथापि उसे उपचार से काय कहा है; क्योंकि संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं का स्कंध बनता है तथा वह स्कंध बहुप्रदेशी होता है; अत: उपचार से उसे 'काय' कहते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि स्कंध के बहुप्रदेशीपने के कारण पुद्‌गल को काय कहा जाता है तो कालाणु की पर्याय के समूह से दिन-रात आदि होते हैं, अत: उपचार से कालाणु को भी काय कहें तो क्या दोष है?

उत्तर- परमाणु में स्निग्ध, रूक्षत्व गुण होने से बंध होता है और स्कंध बनता है। कालाणु में स्निग्ध-रूक्षत्व गुण नहीं होते; अत: उनमें बंध का अभाव है। वे हमेशा एक-एक और अलग-अलग ही रहते हैं। इसलिए पुद्‌गल में तो कायपने का उपचार आता है और कालाणु में नहीं आता।[1]

काल के अणु एक-एक अलग रहते हैं, वे मिलकर स्कंध नहीं होते। इस कारण काल द्रव्य कायवान नहीं, अस्तिकाय नहीं, अनस्तिकाय है।

इसप्रकार इस गाथा में सभी द्रव्यों के संबंध में सामान्य कथन किया गया है।

इसके पश्चात् 26वीं गाथा में परमाणु के स्कंध के संबंध में विशेष कथन किया जा रहा है। ●

1. वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, पृ.-294

(b) परमाणु कायवान
गाथा 26

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।।26।।

पदविच्छेद – णाणा–खंधप्प–देसदो।

शब्दार्थ – एयपदेसो = एकप्रदेशी होने पर , वि = भी,अणू = पुद्गल परमाणु, णाणा = विविध, खंधप्प = स्कंधरूप, देसदो = प्रदेश वाला (होता है, इस कारण), बहुदेसो = बहुप्रदेशी, होदि = होता है, य = और, तेण = इसी कारण, सव्वण्हु = सर्वज्ञ देव (पुद्गल परमाणु को), उवयारा = उपचार से, काओ = कायवान, भणंति = कहते हैं।

संदर्भ – इस गाथा में पुद्गल परमाणु को कायपना कहने की अपेक्षा बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – एक प्रदेशी होने पर भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है, इस कारण सर्वज्ञ देव परमाणु को उपचार से काय कहते हैं।

व्याख्या – इस गाथा में पुद्गल के परमाणु की विशेषता बताते हुए कहा है कि यद्यपि पुद्गल का परमाणु एकप्रदेशी है, फिर भी वह दूसरे परमाणु से जुड़ कर स्कंध बन जाता है, अनेक प्रदेशी हो जाता है; अतः उसे एक प्रदेशी नहीं, अनेक प्रदेशी ही कहा जाता है। अनेक प्रदेशी को ही कायवान कहा जाता है; किन्तु काल के अणु में स्कन्धरूप होने की शक्ति नहीं है, वह मोती की माला में स्थित मोतियों की तरह भिन्न–भिन्न ही रहते हैं। अतः वह सदा एक प्रदेशी ही रहने के कारण कायवान नहीं है, अस्तिकाय नहीं है; अनस्तिकाय ही है।

संक्षेप में कहें तो जुड़कर स्कंध बनने की शक्ति के कारण एक प्रदेशी होने पर भी परमाणु को उपचार से, व्यवहार से कायवान कहते हैं।

इसके पश्चात् 27वीं गाथा में प्रदेश का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

(c) प्रदेश
गाथा 27

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।।27।।

पदविच्छेद – अविभागी – पुग्गल+अणु+ उट्टध्दं ,सव्व+अणु–ट्ठाण–दाणरिहं।

शब्दार्थ – जावदियं = जितना, आयासं = आकाश, अविभागी–पुग्गल = पुद्गल, अणु = परमाणु द्वारा, उट्टध्दं = व्याप्त है, तं = उसे, खु = वास्तव में, सव्व = सर्व, अणु = परमाणुओं को, ट्ठाण = स्थान, दाणरिहं = देने योग्य, पदेसं = प्रदेश, जाणे = जानना चाहिए।

संदर्भ – इस गाथा में प्रदेश की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – जितना आकाश (स्थान) पुद्गल परमाणु घेरता है, उसे ही वास्तव में सर्व अणुओं को स्थान देने वाला प्रदेश जानना चाहिए।

व्याख्या – आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा आ जाए, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। जिसप्रकार लोहे के अंदर आग समा जाती है, उसीप्रकार उस प्रदेश में धर्म, अधर्म द्रव्य के प्रदेश, कालाणु और पुद्गल के अनेक अणु समा जाते हैं। इसलिए प्रदेश को सभी द्रव्यों के अणुओं को स्थान देने के योग्य कहा है। जैनदर्शन में अणु व परमाणु पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसा कि निम्न परिभाषा से स्पष्ट है।

जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, ऐसे छोटे से छोटे अणु को परमाणु कहते हैं। दो अणु या परमाणु जब जुड़ते हैं, तब वे स्कंध कहलाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँच गाथाओं द्वारा पंचास्तिकाय का स्वरूप विस्तार से बता दिया गया है।

संक्षेप में हम कहें तो 3 से 14 तक की 12 गाथाओं में जीव द्रव्य

का व 15 से 27 तक की 13 गाथाओं में अजीव द्रव्य का स्वरूप विस्तार से बताया गया है। एक जीव व पाँच अजीव द्रव्यों को मिलाकर कुल द्रव्य छः होते हैं। ये छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य अवकाश देते हैं, दूध-पानी की तरह परस्पर मिल जाते हैं - इसप्रकार इनमें अत्यन्त संकर (मिश्रितपना) होने पर भी ये अन्य द्रव्यों से एकत्व को प्राप्त नहीं होते तथा ये अपने-अपने निश्चित स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होते; इसलिए परिणाम स्वभाववाले होने पर भी वे नित्य हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का वर्णन एकमात्र जैनदर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द दर्शन, मत, सिद्धान्त, आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित हैं, परन्तु उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं। जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भाँति व्याप्त हैं। जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जैन तत्त्व के प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश रहा है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इस जीव के लिए न तो दुःख के कारण ही हैं और न सुख के। यही कारण है कि इनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है।

गाथा 2 से 27 तक की गाथाओं की विषयवस्तु अगले पेज पर दिये गये चार्ट द्वारा समझी जा सकती है।

इसके पश्चात् 28 से 38 तक की 11 गाथाओं में इन जीव-अजीव की ही विशेष पर्यायों का कथन किया जा रहा है। जीव-अजीव के संयोग होने पर विभाव पर्यायें होतीं हैं एवं संयोग का अभाव होने पर स्वभाव पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

अब सर्वप्रथम 28वीं गाथा में इन सभी पर्यायों का नाम बताया जा रहा है। ●

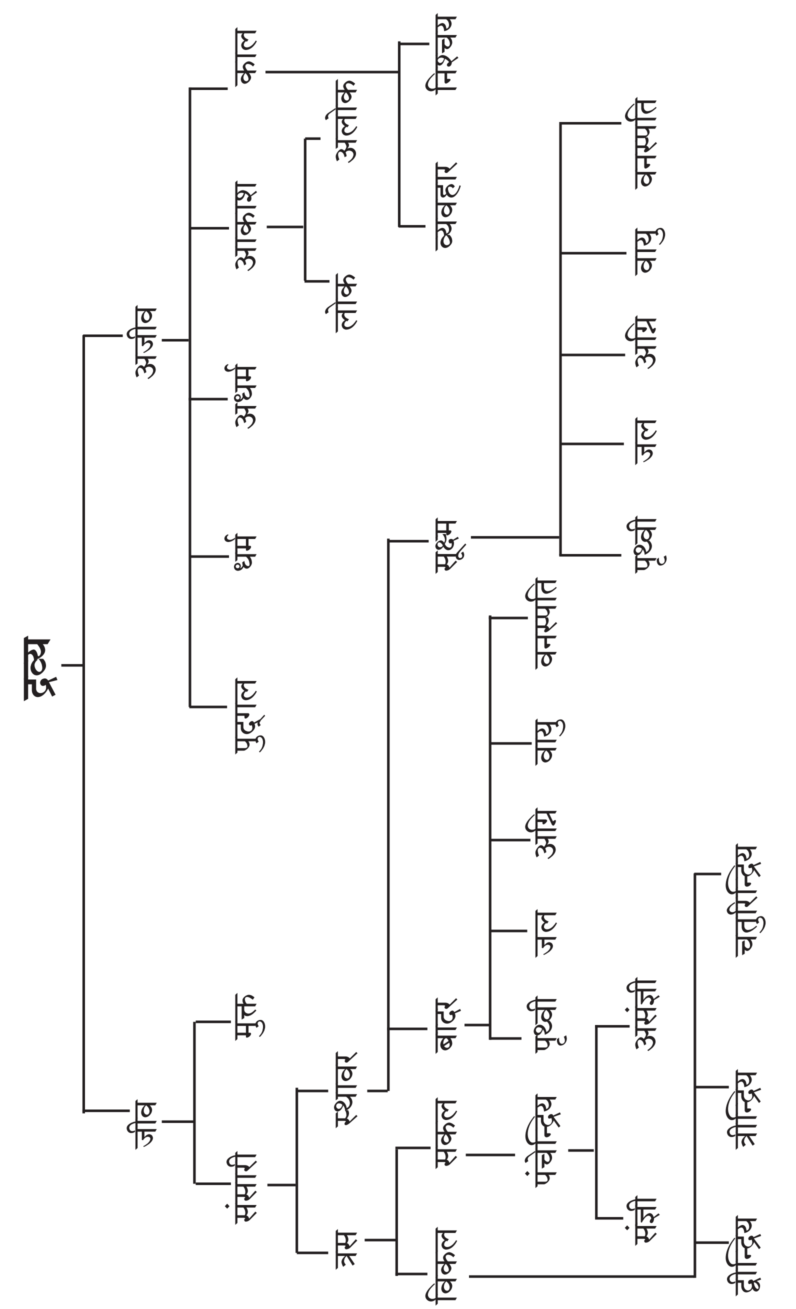

4. जीव–अजीव के विशेष (सात तत्त्व)

गाथा 28

आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ।।28।।

पदविच्छेद – आसव- बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खो, स-पुण्ण-पावा, जीव+अजीव-विसेसा।

शब्दार्थ – जे = जो, आसव = आस्रव, बंधण = बन्ध, संवर = संवर, णिज्जर = निर्जरा , मोक्खो = मोक्ष, स = सहित, पुण्ण = पुण्य, पावा = पाप (सहित सात तत्व हैं, वे), जीव = जीव, अजीव = अजीव द्रव्य के, विसेसा = विशेष हैं, तेवि = वे भी, समासेण = संक्षेप में, पभणामो = कहते हैं।

संदर्भ – जीव-अजीव द्रव्य के संयोग से उत्पन्न पर्यायों के नाम बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – पुण्य व पाप सहित आस्रव और बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष जीव और अजीव के ही विशेष हैं; उन्हें भी संक्षेप में कहते हैं।

व्याख्या – जिसप्रकार जीव-अजीव द्रव्य के गुणों का वर्णन पूर्व गाथाओं में कर आए हैं; उसीप्रकार उन दोनों के मिलने व विछोह से उत्पन्न सात पर्यायों के नाम इस गाथा में निम्नप्रकार बताए गए हैं –

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य व पाप।

यह सात पर्याय और जीव-अजीव द्रव्य मिलाकर नव पदार्थ कहलाते हैं।

नव पदार्थों में से जीव व अजीव पदार्थ का वर्णन पूर्व गाथाओं में हो ही चुका है, अतः अब आगामी 29 वीं, 30 वीं व 31 वीं गाथा में आस्रव तत्व का वर्णन किया जा रहा है। •

(i) आस्रव

गाथा 29

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।।29।।

पदविच्छेद – परिणामेण+अप्पणो , कम्म+ आसवणं।

शब्दार्थ – अप्पणो = आत्मा के, जेण = जिस, परिणामेण = परिणाम से, कम्मं = कर्म, आसवदि = आता है, स = उसे, जिणुत्तो = जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया, भावासवो = भावास्रव, विण्णेओ = जानना चाहिए, कम्म = कर्म, आसवणं = आना (पुद्गल कर्म का आना), परो = दूसरा (द्रव्यास्रव), होदि = है।

संदर्भ – इस गाथा में आस्रव के भेदों का स्वरूप बताते हुए कहा है कि –

अर्थ – जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आता है, उसे भावास्रव जानना चाहिए और पुद्गल कर्म का आना दूसरा (द्रव्यास्रव) है।

व्याख्या – आस्रव के दो भेद हैं – भावास्रव और द्रव्यास्रव। इस गाथा में 'जिन परिणामों' से तात्पर्य 'मोह-राग-द्वेष' से है और कर्म से तात्पर्य ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से है; जिन्हें द्रव्यकर्म भी कहते हैं। इसप्रकार भावास्रव की परिभाषा हुई – 'जिन मोह-राग-द्वेष रूप परिणामों से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं; उन मोह-राग-द्वेष भावों को भावास्रव कहते हैं' तथा भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्मों का आना ही द्रव्यास्रव है। शुभराग से पुण्य का आस्रव व बंध होता है तथा अशुभ राग, द्वेष व मोह से पाप का आस्रव व बंध होता है।

इसके पश्चात् 30वीं गाथा में भावास्रवों के नाम और उनके भेदों का वर्णन किया जा रहा है। •

गाथा 30

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।

पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।।30।।

पदविच्छेद – मिच्छत्त-अविरदि-पमाद-जोग-कोह+आदओ-अथ।

शब्दार्थ – अथ = और, पुव्वस्स = पूर्व, पहले (भावास्रव के), मिच्छत्त = मिथ्यात्व, अविरदि = अविरति, पमाद = प्रमाद, जोग = योग, कोह = क्रोध, आदओ = आदि, भेदा = भेद हैं, कमसो = क्रम से, पण = पाँच, पणदह = पन्द्रह, तिय = तीन, चदु = चार (ऐसे बत्तीस भेद), विण्णेया = जानने चाहिए।

संदर्भ – इस गाथा में भावास्रवों का विशेष वर्णन करते हुए कहा है कि –

अर्थ – और पहले (भावास्रव) के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि भेद हैं। उनके क्रम से पांच, पांच, पंद्रह, तीन और चार – ऐसे बत्तीस भेद जानना चाहिए।

व्याख्या – भावास्रव के मुख्य भेद 5 हैं और उनके प्रभेद मिलाकर कुल 32 भेद हैं। जो निम्नप्रकार हैं–

1. मिथ्यात्व – आत्मा संबंधी उल्टी मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं अथवा प्रयोजनभूत सात तत्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। **मिथ्यात्व दो प्रकार का है – अगृहीत और गृहीत।**

अगृहीत मिथ्यात्व – जो बिना सिखाए अनादि से ही शरीर, रागादि में अहंबुद्धि है, वह अगृहीत मिथ्यात्व है। यह किसी के सिखाने से नहीं हुआ है, इसलिए अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्व – मनुष्य भव में परोपदेश (कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के उपदेशादि) से जो उल्टी मान्यता की पुष्टि होती है, वह

गृहीत मिथ्यात्व है। गृहीत अर्थात् ग्रहण किया हुआ। गृहीत मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। इस गाथा में इसी के भेद बताए हैं। जो निम्न हैं– (i) एकान्त (ii) विपरीत (iii) संशय (iv) अज्ञान और (v) विनय मिथ्यात्व।

(i) एकान्त मिथ्यात्व – प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों से युक्त है। जैसे एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि। ऐसी अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एक धर्म के आधार पर निर्णय करने को 'एकान्त मिथ्यात्व' कहते हैं। जैसे वस्तु नित्य ही है – ऐसा मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

(ii) विपरीत मिथ्यात्व – आत्मा के स्वरूप को अन्यथा मानने को अथवा तत्व के विरुद्ध कथन को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे– 'भगवान प्रेम के सागर होते हैं।' यह जिनागम के विरूद्ध कथन है; क्योंकि प्रेम राग का ही एक रूप है, जबकि भगवान वीतरागी होते हैं।

(iii) संशय मिथ्यात्व – संदेह युक्त श्रद्धा को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे– भगवान होते तो हैं, पर किसने देखा? आदि संदेहजनक कथन संशय मिथ्यात्व कहलाते हैं।

(iv) अज्ञान मिथ्यात्व – जहाँ हिताहित के विवेक का कुछ भी सद्भाव नहीं होता – ऐसी श्रद्धा को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं अथवा किसी प्रकार की परीक्षा किए बिना धर्म की श्रद्धा करना अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे – हिंसादि पाप क्रियाओं में धर्म मानना।

(v) विनय मिथ्यात्व – सभी देवों व मतों को समान मानना विनय मिथ्यात्व है। जैसे हम तो गणेश, शिव, ईसा, अल्लाह, महावीर – सभी को मानते हैं। सभी एक से ही हैं।

2. अविरति – हिंसादि पापों तथा इन्द्रिय मन के विषयों में प्रवृत्ति 'अविरति' है। इस गाथा में अविरति के पाँच भेद बताए हैं – हिंसा,

असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह। इन पाँचों पापों में प्रवृत्ति ही पाँच प्रकार की अविरति है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अविरति के 3 और 12 भेद बताये गए हैं।

3. प्रमाद – संज्वलन कषाय और नोकषाय के तीव्र उदय से निरतिचार चारित्र पालने में अनुत्साह व स्वरूप की असावधानी को प्रमाद कहते हैं। प्रमाद के 15 भेद हैं – चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियों के विषय, एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह)।

क. विकथा –

(i) स्त्री कथा – स्त्रियों के संयोग व वियोग से संबंधित विविध प्रकार की चर्चा-वार्ता ही 'स्त्री कथा' है ।

(ii) राज कथा – राज्य संबंधी व युद्ध संबंधी चर्चा वार्ता ही 'राज कथा' है। राजनीति, कूटनीति संबंधी समस्त चर्चाएँ इसमें सम्मिलित हो जाती हैं।

(iii) चोर कथा – चोरी करने के संदर्भ में चर्चा-वार्ता ही 'चोर कथा' है।

(iv) भोजन कथा – खाने-पीने संबंधी समस्त चर्चा वार्ता 'भोजन कथा' है।

ख. कषाय – जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, उसे कषाय कहते हैं। मोटे तौर पर कषाय चार प्रकार की होती है – क्रोध, मान, माया और लोभ।

ग. इंद्रिय – जो शरीर के चिन्ह आत्मा को ज्ञान कराने में सहायक होते हैं, उन्हें इंद्रियाँ कहते हैं। यह पाँच होती हैं – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

घ. निद्रा – परिश्रम जन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना निद्रा है।

च. प्रणय – बाह्य पदार्थों में ममत्व रूप भाव को प्रणय कहते हैं।

4. योग – मन, वचन, काय के आलंबन से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं। योग के तीन भेद हैं – मन, वचन और काय।

5. कषाय – आत्मा की अशुद्ध परिणति को कषाय कहते हैं ।इनसे आत्मा दुःखी होता है। यह भेद-प्रभेद सहित 25 प्रकार की होती हैं, जिनमें 4 मुख्य हैं; अतः इस गाथा में 4 भेदों की ही चर्चा की है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। ये चारों कषायें क्रोध, मान, माया, लोभ रूप होतीं हैं। इसप्रकार उन्हें भिन्न-भिन्न गिनने पर 16 कषायें हो जाती हैं। शेष नौ को 'नोकषाय'[1] कहते हैं।

अनन्तानुबंधी आदि 16 कषायों जितनी तीव्रता न होने के कारण इन्हें 'नोकषाय' अर्थात् 'इषत् कषाय' कहते हैं। इनसे अल्प बंध होता है, ये सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति में बाधक नहीं हैं; जबकि अनन्तानुबंधी कषायें अनन्त संसार का कारण हैं। इनके उदय में जीव मिथ्यादृष्टि रहता है। सम्यग्दर्शन होने पर इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में देशव्रत धारण नहीं होते हैं और प्रत्याख्यानावरण के उदय में महाव्रत नहीं होते हैं। संज्वलन लोभ दसवें गुणस्थान तक रहता है व सबसे अंत में 'नोकषाय' समाप्त होकर वीतरागता प्रगट होती है।

संक्षेप में कहें तो 5 मिथ्यात्व, 5 अविरति, 15 प्रमाद, 3 योग और 4 कषायें – कुल मिलाकर 32 भेद भावास्रव के होते हैं।

इसके पश्चात् 31वीं गाथा में द्रव्यास्रव का स्वरूप व भेद बताए जा रहे हैं। ●

1. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद – यह नोकषाय कहलाती हैं।

गाथा 31

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेयो जिणक्खादो।।31।।

पदविच्छेद – णाणावरण+आदीणं, अणेय-भेयो।

शब्दार्थ – णाणावरण = ज्ञानावरण, आदीणं = आदि (आठ प्रकार के कर्मरूप), जोग्गं = होनेयोग्य, जं = जो (कार्मणवर्गणा के), पुग्गलं = पुद्गल, समासवदि = आते हैं, स= वे, अणेय = अनेक, भेयो = भेदवाले, दव्वासवो = द्रव्यास्रव, णेओ = जानना चाहिए, जिणक्खादो = ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

संदर्भ – द्रव्यास्रव के स्वरूप व भेद को बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वे अनेक भेद वाले हैं।

व्याख्या – जीवों के कर्मवर्गणारूप पुद्गल के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं। मुख्य रूप से कर्म आठ प्रकार के हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय।

इनमें ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की 28, आयु की चार, नामकर्म की 93, गोत्र के दो और अंतराय की पाँच – इसप्रकार 148 प्रकृतियाँ होती हैं, तथा उत्तरोत्तर प्रकृति रूप से तो अनेक भेद होते हैं।

इसके पश्चात् 32 वीं व 33 वीं गाथा में बंध का स्वरूप व भेद बताए जा रहे हैं। ●

(ii) बंध

गाथा 32

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।।32।।

पदविच्छेद – चेदण+भावेण, कम्म+आद-पदेसाणं, अण्णोण्ण-पवेसणं।

शब्दार्थ – जेण = जिस, चेदण = चैतन्य, भावेण = भाव से, कम्मं = कर्म, बज्झदि = बंधता है, सो = वह (परिणाम), भावबंधो = भावबंध है, दु = और, कम्म = कर्म, आद = आत्मा, पदेसाणं = प्रदेशों का (कर्म तथा आत्मप्रदेशों का), अण्णोण्ण = एक-दूसरे में, पवेसणं = प्रवेश होना (सो), इदरो = अन्य दूसरा (द्रव्यबंध) है।

संदर्भ – इस गाथा में बंध के भेदों को बताते हुए कहा है कि –

अर्थ – जिस चैतन्य भाव से कर्म बंधता है, वह भावबंध है और कर्म व आत्मा के प्रदेशों का एक-दूसरे में प्रवेश होना दूसरा (द्रव्य) बंध है।

व्याख्या – इस गाथा में बंध के दोनों भेदों का स्वरूप बताया गया है। बंध दो प्रकार का होता है – भाव बंध और द्रव्य बंध।

आत्मा का अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, पुण्य पाप आदि विभाव भावों में रुक जाना भाव बंध है और भाव बंध के निमित्त से पुद्गल का स्वयं कर्मरूप बंधना द्रव्य बंध है।

इसके पश्चात् 33वीं गाथा में बंध के प्रकार व कारणों को बताया जा रहा है। ●

गाथा 33

पयडिट्ठिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।।33।।

पदविच्छेद – अणुभागप्प-देस-भेदा, पयडि-पदेसा, ठिदि-अणुभाग।

शब्दार्थ – पयदि = प्रकृति, ट्ठि = स्थिति, अणुभागप्प = अनुभाग, देस = प्रदेश, भेदा = भेद से, चदुविधो = चार प्रकार का, बंधो = बंध, जोगा = योग से, ठिदि = स्थिति, अणुभागा = अनुभाग, कषाय दो = कषाय से, होंति = होते हैं।

संदर्भ – बंध के भेद व कारणों को बताते हुए इस गाथा में कहा है कि-

अर्थ – प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से बंध चार प्रकार का है। इसमें से प्रकृति और प्रदेश बंध योग से तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

व्याख्या – बंध के चार भेद निम्न हैं -

प्रकृति बंध – कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं।जैसे चीनी मीठी होती है और नींबू खट्टा होता है; वैसे ही सभी कर्मों के अपने-अपने स्वभाव होते हैं। जैसे ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव पदार्थों को न जानने में निमित्त होता है और दर्शनावरण का स्वभाव पदार्थों को न देखने में निमित्त होता है।

स्थिति बंध – कर्मों के आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं।

अनुभाग बंध – कर्मों के फल देने रूप हीनाधिक शक्ति को अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रदेश बंध – बंधे हुए कर्म परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में रहना ही प्रदेश बंध है।

इसके पश्चात् 34-35 वी गाथा में संवर का स्वरूप और भेद-प्रभेद बताए जा रहे हैं। ●

(iii) संवर

गाथा 34

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो।।34।।

पदविच्छेद – चेदण-परिणामो, कम्मस्स+आसवणि-रोहणे, दव्वासव+ रोहणो।

शब्दार्थ – जो = जो, चेदण = आत्मा का, परिणामो = परिणाम, कम्मस्स = कर्म के, आसवणि = आस्रव को, रोहणे = रोकने में, हेऊ = कारण है, सो खलु = वही, भावसंवरो = भावसंवर है, दव्वासव = द्रव्यास्रव का, रोहणो = न होना (सो), अण्णो = दूसरा (द्रव्यसंवर) है।

संदर्भ – इस गाथा में भाव संवर व द्रव्य संवर का स्वरूप बताया जा रहा है -

अर्थ – आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, वही भाव संवर है और द्रव्यास्रव का रुकना अन्य (द्रव्य) संवर है।

व्याख्या – पुण्य-पाप रूप अशुद्ध भाव का आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रुकना भाव संवर है और उसके अनुसार कर्मों का आना स्वतः रुकना द्रव्य संवर है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि आत्मा में एक समय में एक ही भाव हो सकता है, अतः जब शुद्ध भाव होते हैं तो शुभ-अशुभ भाव स्वतः बिना प्रयास के रुक जाते हैं। उसके लिए कुछ अलग से करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे प्रकाश होते ही अंधकार स्वयं स्वतः बिना प्रयास के समाप्त हो जाता है। **पुरुषार्थ, प्रयास सब कुछ प्रकाश करने का है, अपने में जमने-रमने का करना है, शेष सब तो स्वयं, स्वतः सहज ही हो जाएँगे।**

इसके पश्चात् 35 वीं गाथा में भाव संवर के भेद बताए जा रहे हैं। ●

गाथा 35

वदसमिदिगुत्तिओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा ।।35।।

पदविच्छेद – वद- समिदि-गुत्तिओ ,धम्म+ अणुपिहा, भावसंवर- विसेसा।

शब्दार्थ – वद = व्रत, समिदि = समिति, गुत्तिओ = गुप्ति, धम्म = धर्म, अणुपिहा = अनुप्रेक्षा, परीसहजओ = परीषहजय, य = और, चारित्तं = चारित्र, बहुभेयं = अनेक भेदवाला, भावसंवर = भावसंवर के, विसेसा = विशेष (भेद), णायव्वा = जानना चाहिए।

संदर्भ – भाव संवर के भेद बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

प्रसंग – व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और अनेक भेद वाला चारित्र को ही भाव संवर के भेद जानना चाहिए।

व्याख्या – व्रत, समिति, गुप्ति आदि भेद निश्चय से भी होते हैं और व्यवहार से भी। चूँकि यहाँ उक्त भाव संवर के विशेष भेद के रूप में आए हैं, अतः यहाँ निश्चय व्रत, निश्चय समिति, निश्चय गुप्ति आदि अर्थ ही लेना चाहिए।

दूसरी बात व्यवहार गुप्ति, समिति आदि की चर्चा आगामी 45 वीं गाथा में पृथक् रूप से की गई है इसलिए हम इस गाथा में निश्चय व्रत समिति ही समझेंगे।

अपने आत्मा के सही स्वरूप को जानकर पहचानना, उसमें जमना-रमना लीन होना ही निश्चय से व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र आदि सब कुछ है; क्योंकि जब आत्मा में लीन होते हैं, तब बाह्य समस्त मन, वचन, काय की क्रिया का निरोध हो जाता है। यही व्यवहार गुप्ति है। उपसर्ग सर्दी-गर्मी आदि पर ध्यान नहीं जाता है। चलना-फिरना खाना-पीना सब बंद हो जाता है; यही व्यवहार समिति है।

यद्यपि समिति, गुप्ति आदि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न नाम हैं; पर एक आत्मानुभव की स्थिति होने पर, निश्चय चारित्र होने पर ये सब एक साथ हो जाते हैं। आत्मानुभूति की स्थिति ही शुद्धोपयोग है, यही निश्चय चारित्र है। इसी से संवर व निर्जरा होती है।

आस्रव का निरोध संवर है; अतः जीव के मोहादि विकारीभावों को रोकना संवर है। आत्मा में जिन सम्यक्त्वादि भावों के होने पर आस्रवभाव रुकें अर्थात् नवीन कर्म न बंधें वे सम्यक्त्वादि भाव संवरभाव हैं।

जब जीव का उपयोग शुद्धात्मा में रहता है, तब जीव को नवीन पुण्य-पाप भावों के अभाव में नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता - यही संवर है। इसप्रकार जीव की शुद्धपर्याय होने पर अशुद्धपर्याय नहीं होती, अत नवीन कर्मबंध भी नहीं होता - इसे ही संवर कहते हैं। धर्म का प्रारंभ संवर से होता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ संवरतत्त्व की प्राप्ति होती है। शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के बिना न तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, न संवर की। भेदविज्ञान के बल से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का अभाव जिसका लक्षण है, ऐसा संवर प्रगट होता है।

संवर दो प्रकार का है - **भावसंवर और द्रव्यसंवर।**

पुण्य-पाप के विकारी भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मो का स्वयं आना रुक जाना द्रव्यसंवर है।

तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र - इन छह कारणों से संवर होता है।

अब आगामी 36वीं गाथा में निर्जरा का स्वरूप बताया जा रहा है।

●

(iv) निर्जरा

गाथा 36

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा।।36।।

पदविच्छेद – कम्म-पुग्गलं, च+इदि।

शब्दार्थ – जहकालेण = समय आने से, य = और, तवेण = तप द्वारा, भुत्तरसं = जिनका फल भोगा जा चुका है (ऐसे), कम्म = कर्मरूप, पुग्गलं = पुद्गल, जेण = जिस, भावेण = भाव से, सडदि = खिर जाते हैं (उसे भावनिर्जरा), णेया = जानना चाहिए, च = और, तस्सडणं = कर्मों का खिर जाना (सो द्रव्यनिर्जरा है), इदि = इसप्रकार, णिज्जरा = निर्जरा, दुविहा = दो प्रकार से है।

संदर्भ – इस गाथा में निर्जरा के भेद बताते हुए कहा गया है कि-

अर्थ – निर्जरा दो प्रकार की है - 1. समय आने पर अथवा तप द्वारा जिनका फल भोगा जा चुका है, ऐसे कर्म पुद्गल जिस भाव से खिर जाते हैं; उसे भाव निर्जरा जानना चाहिए और 2. कर्मों का खिर जाना ही द्रव्य निर्जरा है।

व्याख्या – इस गाथा में निर्जरा के मुख्य दो भेद बताए गए हैं - 1. भाव निर्जरा और 2. द्रव्य निर्जरा।

आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूप स्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना भाव निर्जरा है।

तप द्वारा होने से यही निर्जरा सच्ची निर्जरा है। इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं और जो समय आने पर फल देकर खिर जाती है, वह तो मात्र नाम की निर्जरा है तथा भाव निर्जरा का निमित्त पाकर जड़ कर्म का अंशतः खिर जाना द्रव्य निर्जरा है। कर्मों का अपने समय में स्वयं उदय में आ-आकर झड़ते रहना सविपाक निर्जरा है। चारों गतियों के जीवों को सदा यह निर्जरा होती है।

इसके पश्चात् 37वीं गाथा में मोक्ष का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

(v) मोक्ष

गाथा 37

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो।।३७।।

पदविच्छेद – खय-हेदू, कम्म-पुधभावो।

शब्दार्थ – अप्पणो = आत्मा के, जो = जो, परिणामो = परिणाम, सव्वस्स = समस्त, कम्मणो = कर्मों के, खय = क्षय होने में, हेदू = कारण हैं, स हु = वही , भावमोक्खो = भावमोक्ष, णेओ = जानना चाहिए, य = और, कम्म = (आत्मा से) द्रव्यकर्मों का, पुधभावो = पृथक् होना (सो), दव्वविमोक्खो = द्रव्यमोक्ष है।

संदर्भ – मोक्ष के भेद बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि-

अर्थ– जो सभी कर्मों के नाश का कारण है ऐसे आत्मा का परिणाम भाव मोक्ष है और कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना द्रव्य मोक्ष है।

व्याख्या – अशुद्ध दशा का सर्वथा संपूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना भाव मोक्ष है और उसका निमित्त पाकर द्रव्य कर्म का सर्वथा नाश होना द्रव्य मोक्ष है।

विशेष इतना कि चार घातिया कर्मों के नाश होने पर १३वें गुणस्थान में भाव मोक्ष हो जाता है और जब सिद्ध होने पर समस्त कर्मों का अभाव होता है, तब द्रव्य मोक्ष होता है।

संक्षेप में कहें तो आत्मा की पूर्ण शुद्ध दशा होना मुक्ति है। मुक्ति में स्वयं आनन्द है। मुक्ति सुख बाधा रहित है, उस सुख में विघ्न नहीं हैं, हानि-वृद्धि नहीं है, वह तो एकरूप ही रहता है और प्रगट होने के बाद कभी नाश को प्राप्त नहीं होता।

इसके पश्चात् 38वीं गाथा में आस्रव, बंध के अवान्तर भेद पुण्य-पाप का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

(vi) पुण्य और पाप

गाथा 38

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च।।38।।

पदविच्छेद – सुह-असुह-भावजुत्ता।

शब्दार्थ – जीवा = जीव, सुह = शुभ, असुह = अशुभ, भावजुत्ता = भावों में युक्त होकर, पुण्णं = पुण्यरूप, पावं = पापरूप, हवंति = होते हैं, सादं = साता-वेदनीयकर्म, सुहाउ = शुभ आयु, णामं = शुभ नाम, गोदं = शुभ गोत्र-उच्चगोत्र, (यह सब) पुण्णं = पुण्य प्रकृतिया हैं, च = और, पराणि = दूसरी (असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र तथा चार घातिया कर्म), पावं = पाप प्रकृतिया हैं।

संदर्भ – पुण्य-पाप के संबंध में विशेष कथन करते हुए इस गाथा में कहा गया है कि-

अर्थ – शुभ और अशुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य और पापरूप होते हैं। आठ कर्मों में साता वेदनीय कर्म, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ (उच्च) गोत्र - यह सब पुण्य प्रकृतियाँ हैं और इनसे भिन्न दूसरी शेष सब (असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम व नीच गोत्र) पाप प्रकृतियाँ हैं।

व्याख्या – दया, दान, व्रत, उपवास, भक्ति आदि मंद कषाय रूप शुभभावों से जीव को पुण्य का बंध होता है और हिंसा, चोरी आदि अशुभ भावों से जीव को पाप का बंध होता है। आठ कर्मों में अघातिया कर्म पुण्य और पाप दोनों रूप हैं और घातिया कर्म तो सभी पापरूप ही हैं; क्योंकि ये आत्मगुण की घातक हैं। इनका बंध निरंतर होता है। अघाति कर्म आत्मगुण के घातक नहीं है; अतः उनकी उपस्थिति में भी जीव पूर्ण सुखी हो जाता है। यद्यपि इष्ट-अनिष्ट

सामग्री मिलने की अपेक्षा पुण्य-पाप में भेद है, तथापि कर्म बंध की अपेक्षा दोनों समान हैं। दोनों के नाश से ही मुक्ति मिलेगी।

यहाँ पर नौ पदार्थों का वर्णन समाप्त होता है।

संक्षेप में कहें तो 28 से 38 तक की 11 गाथाओं में जीव-अजीव के विशेषों का वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् 39वीं गाथा से 57 तक की 19 गाथाओं में मोक्ष के कारणों का कथन किया जा रहा है। इनमें आरंभ की 8 गाथाओं में निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से कथन किया गया है।

●

सच्ची आराधना

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण जो है, उसे सत्पुरुषों ने आराधना कही है।

आप्त प्रणीत तत्त्वों में अचल प्रतीति करना तथा उनमें शंकादि दोष नहीं लगाना, **दर्शन का उद्योतन** है। प्रमाण-नय से वस्तु का निश्चय करना, उसमें संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय दोष उत्पन्न नहीं करना, **ज्ञान का उद्योतन** कहलाता है। मूलगुण एवं उत्तरगुणों को निरतिचार धारण करना, **चारित्र का उद्योतन** कहलाता है तथा असंयम के अभावरूप आत्मा में विशुद्धता प्रगट करना, **तप का उद्योतन** कहलाता है।

जिस मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप - ये आराधनाएँ स्वयं को प्राप्त हों तथा उत्तरोत्तर विशुद्धता होती जाए - ऐसे मार्ग में प्रवर्तन करना अथवा आराधना के धारकों की सङ्गति करना, मन-वचन-काया की सम्यक्प्रवृत्ति करना एवं ग्रहण-त्याग द्वारा जैसे आराधना हो, वैसे करना **उद्यमन** कहलाता है।

आराधना के विराधक, उपसर्ग-परीषह अथवा वेदनादिक आने पर भी आराधना टिकाये रखना **निर्वहण** कहलाता है। आराधना के कारण आप्त के वचनों का पठन-श्रवण तथा साधु सङ्गति करना एवं विशुद्धता के कारणों को मिलाना **साधन** कहलाता है। चारों आराधनाओं की आयुपर्यन्त प्रवृत्ति करना **निस्तरण** कहलाता है। –वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, भाग-2 पृ.-394-95

5. मोक्ष के कारण

निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग

गाथा 39

सम्मद्दंसणं णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ।।39।।

पदविच्छेद – तत्+तिय–मइओ।

शब्दार्थ – ववहारा = व्यवहार नय से, सम्मद्दंसणं = सम्यग्दर्शन, णाणं = सम्यग्ज्ञान, चरणं = सम्यक्चारित्र को, मोक्खस्स = मोक्ष का, कारणं = कारण, जाणे = जानो, णिच्चयदो = निश्चयनय से, तत् = इन, तिय = तीनों की, मइओ = एकतारूप, णिओ = अपना, अप्पा = आत्मा (मोक्ष का कारण है)।

संदर्भ – इस गाथा में मोक्ष के कारणों का निरूपण दो प्रकार से बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चयनय से इन तीनों की एकता रूप निज आत्मा को मोक्ष का कारण जानो।

व्याख्या – इस गाथा में मोक्ष के कारणों का कथन दो प्रकार से किया गया है; निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चयनय से शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है, और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना व्यवहार मोक्षमार्ग है। जैसे व्रत, तप आदि को निमित्तादिक की अपेक्षा व्यवहार से मोक्षमार्ग कहते हैं।

पर से भिन्न निज आत्मा को जानना ही ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है। निजात्मा में 'यह ही मैं हूँ'– ऐसी अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है और निजात्मा में लीनता ही सम्यक्चारित्र है। अतः निश्चय से तो निजात्मा ही मोक्ष का कारण है। इन तीनों की अभेदता ही निश्चय है और उनमें भेद करना ही व्यवहार है।

इसके पश्चात् 40वीं गाथा में निश्चय मोक्षमार्ग को ही अन्य दृष्टि से समझाया जा रहा है। ●

(i) निश्चय मोक्षमार्ग

गाथा 40

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि।
तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ।।40।।

पदविच्छेद – अण्ण–दवियम्हि, तत्+तिय–मइओ।

शब्दार्थ – अप्पाणं = आत्मा को, मुयत्तु = छोड़कर, अण्ण = अन्य, दवियम्हि = द्रव्य में, रयणत्तयं = रत्नत्रय, न = नहीं, वर्तते = रहता, तह्मा = इसकारण, तत् = वह, तिय = तीनों रत्नों की, मइओ = एकतावाला, आदा = आत्मा, हु = वास्तव में, मोक्खस्स = मोक्ष का कारण, होदि = है।

संदर्भ – निश्चय मोक्षमार्ग का विशेष कथन करते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहते हैं, इसलिए वह तीनों रत्नों की एकता वाला आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

व्याख्या – इस गाथा में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य को जानना, मानना और उसके विकल्प में लीन होना रत्नत्रय नहीं कहलाता। **मात्र आत्मा को निज अनुभूति पूर्वक 'स्व' जानना, मानना, जमना–रमना ही रत्नत्रय कहलाता है।** इन तीनों की अभेदता, एकता वाला **आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है।**

दूसरे शब्दों में कहें तो विकल्पात्मक ज्ञान में आत्मा के सही स्वरूप को जानना–मानना भेद रूप होने से निश्चय से मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो एकमात्र अभेद, अखंड, एक, शुद्ध आत्मा का अनुभव ही है।

इसके पश्चात् 41 से 46वीं गाथा तक रत्नत्रय का स्वरूप बताया गया है। जिसमें सर्वप्रथम 41वीं गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

(ii) सम्यग्दर्शन

गाथा 41

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि।।41।।

पदविच्छेद – जीवादी-सद्दहणं, रूवम्+अप्पणो, दुरभिणिवेस-विमुक्कं।

शब्दार्थ – जीवादी = जीवादि तत्त्वों का, सद्दहणं = श्रद्धान करना, सम्मत्तं = सम्यग्दर्शन है, तु = और, तं = वह, अप्पणो = आत्मा का, रूवम् = स्वरूप है, जम्हि = जिस (सम्यग्दर्शन के), सदि = होने पर, खु = यथार्थ में, णाणं = ज्ञान, दुरभिणिवेस = विपरीत अभिप्राय से, विमुक्कं = रहित, सम्मं = सम्यक्, होदि = होता है।

संदर्भ – इस गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप व महिमा बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन आत्म रूप है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर ज्ञान भी विपरीत अभिप्राय से रहित सम्यक् हो जाता है।

व्याख्या – इस गाथा में कहा गया है कि जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान कहो या आत्मा का श्रद्धान कहो – एक ही बात है; क्योंकि नव पदार्थों के श्रद्धान में भी यही जाना जाता है कि मैं अन्य द्रव्यों व उनके गुण-पर्यायों से रहित आत्मतत्व हूँ; अतः नव तत्त्वों का श्रद्धान भी आत्म रूप ही है। यह आत्म श्रद्धान, आत्मानुभूति ही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर हमारा सारा ज्ञान भी सम्यक् होता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहलाता है; क्योंकि आत्मा संबंधी विपरीत ज्ञान ही मिथ्याज्ञान कहलाता है और आत्मा का विपरीतता रहित सही ज्ञान ही 'सम्यग्ज्ञान' है।

इसके पश्चात् 42वीं गाथा में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताया जा रहा है।

●

(iii) सम्यग्ज्ञान

गाथा 42

संशयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं च।।42।।

पदविच्छेद – संशय-विमोह-विब्भम-विवज्जियं, अप्प-पर-सरूवस्स, सायारम्+अणेयभेयं।

शब्दार्थ – संशय-विमोह-विब्भम-विवज्जियं, अप्प-पर-सरूवस्स, सायारम्+अणेयभेयं।

शब्दार्थ – संशय = संशय, विमोह = विमोह, विब्भम = विभ्रम से, विवज्जियं = रहित, सायारं = आकार-विकल्पसहित, अप्प = आत्मा, पर = पर के, सरूवस्स = स्वरूप का, गहणं = ग्रहण करना (जानना सो), सम्मं = सम्यग्, णाणं = ज्ञान है, च = और (वह), अणेयभेयं = अनेक प्रकार का है।

संदर्भ – सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा है कि-

अर्थ – आत्मा और परपदार्थों के स्वरूप को संशय, विमोह और विभ्रम रहित जानना ही सम्यग्ज्ञान है। वह साकार और अनेक भेदों वाला है।

व्याख्या – संशयादि दोष रहित और आकार सहित निश्चयात्मक स्व-पर पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान है।

संशय – परस्पर विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। यह दो तरफ ढुलता हुआ निर्णय रहित अनिश्चित ज्ञान है। जैसे – यह रस्सी है या साँप अथवा सभी मतों में धर्म की बात है, सुखी होने की बात कही गयी है; इसलिए उनमें भी तो कुछ सत्यता होगी? क्या सर्वज्ञदेव तीर्थंकरों की सभी बातें सत्य हैं? – ऐसा ज्ञान संशयात्मक ज्ञान है, मिथ्या ज्ञान है।

विभ्रम – विपरीत एक पक्ष का निर्णय करने वाले ज्ञान को विभ्रम (विपरीत ज्ञान) कहते हैं। इसमें संशय की तरह अनेक पक्षों का विकल्प नहीं होता, अपितु विपरीत (उल्टा) निर्णय होता है। जैसे – साँप को रस्सी समझना या शरीर को ही आत्मा मानना अथवा मेरे अन्दर जो विकार, दया, दान व्रतादि के तथा काम, क्रोधादि के विकल्प उठते हैं, वे पुद्गल के हैं या मेरे हैं? कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं या जीव के कारण? इसका निर्णय किये बिना कर्म से ही होते हैं अथवा स्वभाव ही विकारी लगता है – ऐसा मान ले तो उसे एक तरफी मिथ्या अभिप्रायरूप विभ्रमज्ञान है।[1]

इसका दूसरा नाम 'विपर्यय' भी है।

विमोह – अनिश्चित, सामान्य, विकल्प रहित ज्ञान को विमोह (अनध्यवसाय) कहते हैं। जैसे – चलते समय पैर में स्पर्श हुए पत्थर या तिनके में 'कुछ है' ऐसा ज्ञान होना। इसमें 'क्या है' जानने का विकल्प नहीं उठता, 'कुछ है' इतना ही वह जानता है। अनध्यवसाय में जो ज्ञान होता है, उसे विशेष जानने के बारे में व्यक्ति की न तो इच्छा होती है और न जिज्ञासा ही। जैसे– जिसे द्रव्य–गुण–पर्याय, नय–प्रमाण, आत्मा आदि की जानकारी नहीं हैं और कोई पूँछें तो कहते हैं– 'भगवान जाने' ऐसा अनिर्णयात्मक ज्ञान **विमोह** कहलाता है। यह ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान है।

जिसप्रकार दर्पण में स्व और पर का आकार एक साथ ही प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार ज्ञान में स्व–पर एक साथ आकार सहित प्रकाशित होते हैं।

ज्ञान से ही पदार्थों का विशेष जानना होता है ।

जो विशेष को ग्रहण न करके मात्र सामान्य को ग्रहण करता है, उसके स्वरूप की चर्चा ही 43वीं गाथा में की जा रही है। ●

1. वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग–2, पृ.–267

गाथा 43

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये।।43।।

पदविच्छेद – ण+एव, कट्टुम्+आयारं, दंसणम्+इदि।

शब्दार्थ – अट्ठे = पदार्थों के, ण = नहीं, एव = ही, कट्टुम = ग्रहण, आयारं = आकार को, अविसेसिदूण = विशेषता न करके, जं = जो, भावाणं = पदार्थों का, सामण्णं = सामान्य, गहणं = ग्रहण करना, दंसणं = दर्शन है, इदि = ऐसा, समये = शास्त्र में, भण्णए = कहा है।

संदर्भ – इस गाथा में 'दर्शन' का स्वरूप बताते हुए कहा है कि–

अर्थ – पदार्थों के आकार को ग्रहण न करके, भेद किए बिना (विशेषता न करके) पदार्थों का जो सामान्य रूप से ग्रहण होता है, वही 'दर्शन' है – ऐसा शास्त्रों में कहा है।

व्याख्या – ज्ञान होने से पूर्व पदार्थों के सामान्य सत्तारूप ग्रहण करने को 'दर्शन' कहते हैं। इस ज्ञान में किसी भी प्रकार का विशेष ज्ञान नहीं होता, आकार ग्रहण नहीं होता। संक्षेप में कहें तो जब कोई भी कुछ भी देखता है, तब जब तक वह वस्तु के संदर्भ में कोई भी विकल्प नहीं करता; तब तक सत्ता मात्र के ग्रहण रूप स्थिति ही रहती है, वह स्थिति 'दर्शन' कहलाती है। जब उसमें छोटा–बड़ा, काला–पीला आदि का विकल्प होने लगता है, तब वह 'ज्ञान' कहलाता है।

दर्शनोपयोग पर पदार्थों में तो भेद नहीं ही करता, पर अपने में भी भेद नहीं करता। दर्शनोपयोग में चक्षुदर्शनादि भेद हैं, पर उनमें विषय की अपेक्षा अन्तर नहीं है। केवली भगवान के केवलदर्शन और छद्मस्थ के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन में से कोई भी दर्शन भेद करके नहीं देखता, सब सामान्यपने भेद किए बिना ही देखते हैं। यद्यपि केवली भगवान के केवलदर्शन व केवलज्ञान एक समय में ही हैं, तो भी दोनों का विषय तो पृथक्–पृथक् है।

'ये दर्शन और ज्ञान किसको एक साथ होते हैं व किसको नहीं' इस शंका का समाधान ही 44वीं गाथा में किया गया है। ●

गाथा 44

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि।।44।।

पदविच्छेद – दंसण-पुव्वं।

शब्दार्थ – छदमत्थाणं = अल्प ज्ञानियों को, दंसण = दर्शन, पुव्वं = पूर्वक, णाणं = ज्ञान (होता है), जह्मा = इसकारण , दुण्णि = दो, उवओगा = उपयोग, जुगवं = एकसाथ, न = नहीं होते, तु = परन्तु, केवलिणाहे = केवली भगवान को, ते = वे, दोवि = दोनों (उपयोग), जुगवं = एकसाथ होते हैं।

संदर्भ – दर्शन व ज्ञान के संबंध में विशेष चर्चा करते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – अल्पज्ञानी जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों[1] को दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते; किन्तु केवलज्ञानियों को दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

व्याख्या – 42 वीं व 43 वीं गाथा में जिन ज्ञान-दर्शन की चर्चा की गई है, उन्हें इस गाथा में 'दो उपयोग' कहा है। इन दोनों उपयोगों की उत्पत्ति का नियम बताते हुए इसमें कहा कि अल्पज्ञानियों को दोनों उपयोग साथ नहीं हो सकते। उन्हें पहले दर्शनोपयोग होता है और बाद में ज्ञानोपयोग; किन्तु सभी अरहंत भगवानों को दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

इसके पश्चात् 45वीं गाथा में सम्यक्चारित्र का वर्णन किया गया है।

●

1. छद्म का अर्थ है- ज्ञानावरण और दर्शनावरण। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। उसकी हीन पर्याय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का निमित्त है, जो ऐसे आवरणसहित होता है, उसे छद्मस्थ कहते हैं। –वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग-2, पृ-291

(iv) सम्यक्चारित्र (व्यवहारचारित्र)

गाथा 45

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।।45।।

पदविच्छेद – वद-समिदि-गुत्तिरूवं, जिण-भणियं।

शब्दार्थ – असुहादो = अशुभ क्रियाओं से, विणिवित्ती = निवृत्त होना, य = और, सुहे = शुभ में, पवित्ती = प्रवृत्ति करना, ववहारणया = व्यवहारनय से, चारित्तं = चारित्र, जाण = जानो, वद = व्रत, समिदि = समिति, गुत्तिरूवं = गुप्तिरूप है, जिण = जिनेश्वर भगवान ने, भणियं = कहा है।

संदर्भ – व्यवहार चारित्र का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा है कि –

अर्थ – अशुभ कार्य की निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति करने को व्यवहारनय से चारित्र जानो। वह चारित्र व्रत, समिति, गुप्ति रूप है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

व्याख्या – यह गाथा सम्यग्दृष्टि के व्यवहार चारित्र की है; मिथ्यादृष्टि के व्यवहार चारित्र नहीं होता।

निश्चयचारित्र के साथ होने वाले बारह व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, 10 धर्म, 12 अनुप्रेक्षा आदि सभी व्यवहार चारित्र कहलाते हैं।

इसके पश्चात् 46वीं गाथा में निश्चयचारित्र का स्वरूप बताया जा रहा है।

●

शुद्ध-बुद्ध स्वभावी आत्मा

मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण विभावों से रहित होने के कारण आत्मा 'शुद्ध' है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों से परिपूर्ण होने के कारण बुद्ध है। – वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग-2, पृ-325

(v) परम सम्यक् चारित्र
गाथा 46

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।।46।।

पदविच्छेद – बहि:+अब्भंतर–किरिया–रोहो, भव–कारणप्प–णासट्ठं।

शब्दार्थ – भव = संसार के (भव के), कारणप्प = कारणों का, णासट्ठं = नाश करने के लिए, णाणिस्स = ज्ञानियों को, बहि: = बाह्य, अब्भंतर = अभ्यन्तर, किरिया = क्रियाओं का, रोहो = रोकना है, तं = वह, जं = जो, जिणुत्तं = जिनेश्वर देव का कहा हुआ, परमं = उत्कृष्ट, सम्मचारित्तं = सम्यक् चारित्र है।

संदर्भ – परम सम्यक्चारित्र का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – संसार के कारणों का नाश करने के लिए ज्ञानियों द्वारा किया गया बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध ही परम सम्यक्चारित्र है – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

व्याख्या – निश्चयचारित्र को ही यहाँ परम सम्यक्चारित्र कहा है। चूँकि इससे संसार का नाश होता है, अतः इसे 'परम' चारित्र कहा है। यह सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होता है, इसलिए ज्ञानियों के ही होता है।

शुभ व अशुभ रूप वाणी और शरीर की क्रिया को बाह्य क्रिया कहते हैं तथा शुभ–अशुभ मन के विकल्पों को अभ्यन्तर क्रिया कहते हैं। इसप्रकार इस गाथा का अर्थ होता है कि –संसार के नाश के लिए ज्ञानियों द्वारा किया गया मन, वचन, काय की क्रियाओं का सर्वथा निरोध ही **परम सम्यक्चारित्र** है।

संक्षेप में कहें तो 45 वीं व 46 वीं गाथा में मोक्ष के कारणों का वर्णन किया गया है। मोक्ष के कारणों की प्राप्ति किससे होती है? मन, वचन, काय के निरोध को क्या कहते हैं? इन्हीं शंकाओं का समाधान 47 वीं गाथा में किया जा रहा है। ●

गाथा 47

दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।47।।

पदविच्छेद – दुविहं–पि, मोक्ख–हेउम्।

शब्दार्थ – जं = कारण कि, मुणी = मुनि, णियमा = नियम से, दुविहं = दोनों प्रकार के, पि = भी, मोक्ख = मोक्ष के, हेउम् = कारणों को, झाणे = ध्यान से, पाउणदि = प्राप्त करते हैं, तह्मा = इसलिए (उसमें), पयत्तचित्ता = प्रयत्नशील होकर, जूयं = तुम, झाणं = ध्यान का, समब्भसह = भलीभाँति अभ्यास करो।

संदर्भ – इस गाथा में ध्यान के अभ्यास की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – पूर्व गाथाओं में कहे गए दोनों प्रकार के मोक्ष के कारणों को मुनिराज नियम से ध्यान से प्राप्त करते हैं।

इसलिए तुम प्रयत्नपूर्वक चित्त को एकाग्र करके अच्छी तरह से ध्यान का अभ्यास करो।

व्याख्या – इस गाथा में मुनिराजों का उदाहरण देकर श्रावकों को ध्यान करने की आज्ञा दी जा रही है। बाह्य और अभ्यंतर क्रियाओं को निरोध करने वाली अवस्था ध्यान अवस्था है। इस अवस्था में मन, वचन, काय की समस्त क्रियाओं का निषेध होता है। इसप्रकार का ध्यान करने से मुनिराज नियम से निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग – दोनों प्रकार के मोक्ष के कारणों को प्राप्त करते हैं। 'अन्दर में स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ से निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है। जिसे स्वसन्मुखता रूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है, उसे अस्थिरताजन्य अल्प शुभ राग रह जाता है। शुभ राग अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग होने पर व्यवहार मोक्षमार्ग भी होता ही है। यह नियम है। गाथा में आया 'णियमा' शब्द इसी अर्थ को बताता है। अत:

मोक्षमार्ग का कारण एक ध्यान ही है। मैं जानने-देखने वाला हूँ; कोई क्रिया करने वाला नहीं - ऐसी अर्न्तमुख दृष्टि, ज्ञान और रमणता से निश्चय और व्यवहार - दोनों मोक्षमार्ग प्राप्त होते हैं।'[1] इसलिए इस गाथा में ध्यान के अभ्यास करने की आज्ञा दी गई है।

जिस ध्यान से निश्चित रूप से मोक्ष होता है; वह ध्यान कैसे होता है? उसके पूर्व की क्या अवस्था होती है? ध्यान के समय क्या होता है? आदि अनेक शंकाओं के समाधान करते हुए आगामी 48 से 56 तक की 9 गाथाओं में विस्तार से ध्यान के विभिन्न रूपों का वर्णन किया जा रहा है। उसके पश्चात् पुनः एक बार 57वीं गाथा में ध्यान के अभ्यास की, साधना की प्रेरणा दी गई है।

'मन को स्थिर करने के लिए और ध्यान का अभ्यास करने के लिए क्या-क्या नहीं करना चाहिए' - इसप्रकार 48वीं गाथा में ध्यान अवस्था में नहीं होने वाले भावों को बताया जा रहा है। ●

ध्यान

ध्यान चार प्रकार के होते हैं - आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

इन चारों ध्यानों में प्रत्येक ध्यान के चार-चार भेद हैं; इसप्रकार कुल मिलाकर ध्यान 16 प्रकार के हो जाते हैं। उक्त चारों ध्यानों में आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान तो संसार के कारण हैं तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मुक्ति के कारण हैं। इसप्रकार संसार व मोक्ष, दोनों ध्यान से ही मिलते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, दया, दान, सेवा आदि के विकारी भाव (आर्त, रौद्र ध्यान)- संसार के कारण हैं और आत्म ध्यान (शुक्ल ध्यान) मुक्ति का कारण है।

- (वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग-2; पृष्ठ-325 के आधार से)

1. वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग-2, पृ.-327

(a) ध्यान

गाथा 48

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ।।48।।

पदविच्छेद - इट्ठ+अणिट्ठ-अत्थेसु, थिरम्+इच्छह, विचित्त-झाणप्प-सिद्धिए।

शब्दार्थ - जइ = यदि, विचित्त = विचित्र (चित्त में उत्पन्न मोह, राग, द्वेष नष्ट हो गए हैं, विकल्प नष्ट हो गए हैं) अथवा अनोखा ध्यान, निर्विकल्प ध्यान, झाणप्प = ध्यान की, सिद्धिए = प्राप्ति करने के लिए, चित्तं = चित्त को, थिरं = स्थिर करना, इच्छह = चाहते हो तो, इट्ठ = इष्ट, अणिट्ठ = अनिष्ट, अत्थेसु = पदार्थों में, मुज्झह = मोह, रज्जह = राग, दुस्सह = द्वेष, मा = मत करो।

संदर्भ - ध्यानी पुरुष को ध्यान अवस्था की सही पहचान बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ - यदि तुम अनेक प्रकार के विकल्पों से रहित ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो, इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह, राग और द्वेष मत करो।

व्याख्या - इस गाथा में ध्यान का विशेषण 'विचित्त' महत्वपूर्ण है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं - 1. विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार की ध्यान की सिद्धि के लिए और 2. दूसरा जिसमें चित्त में उठने वाले अच्छे-बुरे (शुभ-अशुभ विकल्प) नष्ट हो गए हैं, विगत हो गए हैं - ऐसा ध्यान 'विचित्त ध्यान' है।[1] इसमें मन में अच्छे बुरे का, इष्ट-अनिष्ट

टिपण्णी 1. 'विचित्तझाणप्पसिद्धीए' विचित्रं नाना प्रकारं यत्ध्यानं तत्प्रसिद्ध्यै निमित्तं। अथवा विगतं चित्तं चित्तोद्भवशुभाशुभ विकल्पजालं यत्र तद्विचित्तं ध्यानम् तदर्थमिति। वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा-48 की टीका।

का विकल्प ही नहीं होता है । यही ध्यान लौकिक अन्य ध्यानों से भिन्न होने के कारण 'विचित्त ध्यान' है, अनोखा ध्यान है, अनुपम ध्यान है।

यद्यपि ध्यान के अनेक प्रकार भी लौकिक में प्रचलित हैं। ध्यानी पुरुष उनसे भ्रमित न हो जाए व सही दिशा में पुरुषार्थ कर पहचान सके, इसलिए इस गाथा में स्पष्ट तौर पर निम्न तीन बातें दृढ़ता से कही गईं हैं –

1. मन में किसी भी प्रकार का कोई सांसारिक रागात्मक विकल्प नहीं होता है।

2. चित्त स्थिर होता है और

3. अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में मोह-राग-द्वेष भाव न होकर साम्य भाव होता है।

हम सभी अपने आस-पास देखते हैं व स्वयं भी अनुभव करते हैं कि अधिकांश जीवों को इष्ट, अनिष्ट पदार्थों में निरंतर मोह-राग-द्वेष होता रहता है। इस कारण उनके मन में हमेशा दूसरों का भला-बुरा करने के भाव चला करते हैं। यही कारण है कि सर्वप्रथम यह तीन कारण बताए।

जिस ध्यानी पुरुष के मन में यह सब भाव चल रहे हैं, वह बाह्य में ध्यान अवस्था में बैठकर भी अंतरंग में ध्यान से, परम ध्यान से वंचित है; अतः उसे मुक्ति नहीं मिलती। जब तक जीव को मुक्ति नहीं मिली है, तब तक समझना चाहिए कि उसने परमध्यान की सभी अवस्थायें प्राप्त नहीं की हैं; क्योंकि लगातार परमध्यान बने रहने पर मुक्ति होती ही है। यही ध्यान उत्तम ध्यान है। इसी की प्राप्ति का प्रयास पुरुषार्थ सभी को करना चाहिए। इसे करने के लिए चित्त की स्थिरता अनिवार्य है। अतः उसी के अभ्यास करने की प्रेरणा इस गाथा में दी जा रही है।

परम ध्यान के आरंभ से धर्म का आरंभ होता है, सम्यग्दर्शन होता है। परम ध्यान की धीरे धीरे वृद्धि होने पर गुणस्थानों की वृद्धि होती है।

परम ध्यान की पूर्णता होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

दुनियादारी का ध्यान, सांसारिक क्रियाओं का ध्यान; माता-पिता, पत्नी-पुत्रादि का ध्यान आदि विकल्पात्मक ध्यान तो जीव हमेशा करते ही रहते हैं। यहाँ उस ध्यान की बात नहीं है। उससे भिन्न, विचित्र, अनोखे, निर्विकल्पात्मक, 'विचित्त ध्यान'[1] की बात इस गाथा में की गयी है।

जिसप्रकार सांसारिक ध्यान से संसार में सफलता मिलती है; उसी प्रकार पारमार्थिक ध्यान से, परम ध्यान से, उत्तम ध्यान से मोक्षमार्ग में सफलता मिलती है। शरीर का ध्यान (योगा) शरीर को स्वस्थ रखता है, तो आत्मा का ध्यान आत्मा को शांति, सुख प्रदान करता है। इहलोक (इस संसार) की शांति, परलोक के सुख, मोक्षसुख – सभी कुछ ध्यान से ही प्राप्त होते हैं। अतः ध्यान के स्वरूप की सही पहचान आवश्यक है। सही दिशा में पुरुषार्थ आवश्यक है। सही दिशा में प्रयास करने के लिए, विकल्पात्मक भूमिका में राग-द्वेष से बचने के लिए सर्वप्रथम ध्यान किसका करना चाहिए? यही 49वीं गाथा में बताया जा रहा है। ●

---

1. **पदस्थ ध्यान –** अरहंत आदि पंच परमेष्ठी का विचार करना पदस्थ ध्यान है।

पिंण्डस्थ ध्यान – औदारिक शरीर में स्थित अरहंत का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।

रूपस्थ ध्यान – समवशरण में इंद्रों से पूज्य सर्वज्ञ अरहंत का चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है। जैसे- महा विदेह क्षेत्र में अभी सीमंधर भगवान विराज रहे हैं, उनका विचार करना वह रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत ध्यान – शरीर रहित सिद्ध भगवान का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है।

उक्त सभी में आत्मा की तरफ का झुकाव है। जहाँ तक अपूर्ण दशा है, वहाँ जो राग होता है, वह भी पंच परमेष्ठी की ओर झुकाव वाला होता है। इसप्रकार क्रमानुसार विचित्र शब्द से अनेक प्रकार का ध्यान जानना है।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, भाग-2, पृष्ठ-362

(b) ध्यानपूर्व अवस्था

गाथा 49

पणतीस सोल छप्पय चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण।।49।।

पदविच्छेद – दुगम्+एगं, परमेट्ठि-वाचयाणं, गुरू+उवएसेण।

शब्दार्थ – परमेट्ठि = परमेष्ठी, वाचयाणं = वाचक, पणतीस = पैतीस, सोल = सोलह, छप् = छह, पय = पाँच, चदु = चार, दुगं = दो, एगं = एक, च = और, गुरू = गुरु के, उवएसेण = उपदेश द्वारा, अण्णं = अन्य(मन्त्र), जवह = जपो, झाएह = (और उनका) ध्यान करो।

संदर्भ – विकल्पात्मक भूमिका में ध्यान करने योग्य मंत्र के बारे में बताते हुए कहा है कि –

अर्थ – परमेष्ठी के वाचक (बताने वाले) पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मंत्र पदों का ध्यान करना चाहिए और गुरु के उपदेश के अनुसार इस मंत्र के अतिरिक्त अन्य मंत्रों का भी ध्यान कर सकते हैं।

व्याख्या – पंच परमेष्ठी का स्मरण करने वाला यह णमोकार मंत्र महामंत्र हैं, अतः उसे सम्पूर्ण रूप से अथवा उसके वाचक संक्षिप्त पदों को भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है अथवा अन्य मन्त्रों को भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। संक्षेप में कहें तो जिनके स्मरण से समताभाव आता है, राग-द्वेष की वृद्धि नहीं होती है, वे मंत्र ध्यान करने योग्य हैं।

ध्यान करने योग्य मंत्र –

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19
ण मो अ र हं ता णं ण मो सि द्धा णं ण मो आ य रि या णं।
20 21 22 23 24 25 26 27 28 29 30 31 32 33 34 35
ण मो उ व ज्झा या णं ण मो लो ए स व्व सा हू णं।।

इसप्रकार यह णमोकार मंत्र 35 अक्षरों का मंत्र है। इसमें सभी पद शामिल हैं, अतः यह **'सर्वपद'** है।

सोलह अक्षरों का मंत्र

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16
अ रि ह न्त सि द्ध आ य रि य उ व ज्झा य सा हू।

इसमें सभी परमेष्ठी के नाम मात्र दिए गए हैं।

अतः यह **नामपद** 16 अक्षरों का मंत्र है।

1 2 3 4 5 6
अ र हं त सि सा।

ये छह अक्षरों का मंत्र है। इसमें 'सि' से सिद्ध व 'सा' में समस्त साधु (जिसमें आचार्य व उपाध्याय शामिल हो जाते हैं) मिलाकर पंच परमेष्ठी का वाचक हो जाता है अथवा अरहंत, सिद्ध – ये छह अक्षर दो परमेष्ठियों के **'नामपद'** हैं।

1 2 3 4 5
'अ सि आ उ सा' – यह पाँच अक्षरों का मंत्र है। यह मंत्र **'आदिपद'** कहलाता है; क्योंकि इसमें पाँचों परमेष्ठी के नाम का प्रथम अक्षर लिया गया है।

1 2 3 4
'अ सि सा हू' यह चार अक्षरों का मंत्र हैं। इसमें 'अ' से अरहन्त, 'सि' से सिद्ध और साहू में आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी को याद किया गया है अथवा 'अरहंत' ये चार अक्षर अरहंत परमेष्ठी के **नामपद** हैं।

1 2
● 'ओ म' यह दो अक्षरों का पंच परमेष्ठी वाचक मंत्र है अथवा सिद्ध – ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के **नामपद** हैं।

1
'ॐ' यह एक अक्षर का पंच परमेष्ठी वाचक मंत्र है अथवा 'अ' यह एक अक्षर अरहंत परमेष्ठी का 'आदिपद' है।

पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर की संधि करने से 'ॐ' बनता है। जो निम्न प्रकार है –

अ + अ + आ + उ + म = ओम, ॐ

अ = अरहंत, अ = अशरीरी सिद्ध, आ = आचार्य, उ = उपाध्याय और म = मुनि (सर्व साधु)।

संक्षेप में कहें तो पंच परमेष्ठी को हम 1, 2, 4, 5, 6, 16 और 35 अक्षरों द्वारा स्मरण कर सकते हैं। ध्यान में धीरे-धीरे भेद से अभेद की ओर जाते हैं और समझने में अभेद से भेद की ओर। चूँकि यहाँ ध्यान का विषय बताया जा रहा है; अतः भेद से अभेद की ओर, विस्तार से संक्षिप्त की ओर कथन किया गया है।

अज्ञानी जीव जिन-जिन पदार्थों का ध्यान करता है, उनसे राग-द्वेष की वृद्धि ही अधिक होती है और एकदम से निर्विकल्प अनुभव रूप ध्यान हो नहीं सकता; अतः निर्विकल्प अनुभव के पूर्व विकल्पात्मक दशा में ऐसे विषयों के ध्यान से दूर रहने को कहा गया है, जिनसे राग-द्वेष की वृद्धि हो।

पंच परमेष्ठी का स्मरण राग-द्वेष नाशक है; उन जैसे बनने को प्रेरित करता है, अतः सर्वप्रथम उनका विस्तार से नाम स्मरण करने को कहा। धीरे-धीरे जब मन बाह्य विकल्पों से हटकर पंचपरमेष्ठी में लगने लगता है, तब पुनः भेद को दूर कर क्रमशः अभेद की और बढ़ने की दृष्टि से पंचपरमेष्ठी का स्मरण भी मात्र एक अक्षर से करने की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार धीरे-धीरे अनेक विकल्पों से हटता हुआ मन सहज ही निर्विकल्प अवस्था की ओर बढ़ने लगता है।

परमेष्ठी के वाचक इस णमोकार मंत्र में जिनका वर्णन किया गया है, उनका स्वरूप भी जानना अत्यावश्यक है। अतः 50 से 54 तक की पाँच गाथाओं में क्रमशः पाँचों परमेष्ठी का स्वरूप बताया गया है।

इसके पश्चात् सर्वप्रथम 50वीं गाथा में अरहन्त परमेष्ठी का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

(c) पंचपरमेष्ठी स्वरूप

अरहंत परमेष्ठी

गाथा 50

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो।।50।।

पदविच्छेद – णट्ठ-चदु-घाइकम्मो, दंसण-सुह-णाण-वीरियमईओ, सुह-देहत्थो।

शब्दार्थ – णट्ठ = नाश किया है, चदु = चार प्रकार के, घाइकम्मो = घाति कर्मों का, दंसण = (जो) अनन्त दर्शन, सुह = सुख, णाण = ज्ञान, वीरियमईओ = वीर्य सहित हैं, सुह = शुभ, देहत्थो = (सप्त धातु रहित परम औदारिक) शरीर में स्थित हैं, सुध्दो = (अठारह दोष रहित) शुद्ध ज्ञानादि सहित हैं, अप्पा = (वे)आत्मा, अरिहो = अर्हन्त परमात्मा है (और वे), विचिन्तिज्जो = ध्यान करने योग्य हैं।

संदर्भ – नित्य ध्यान करने योग्य अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – चार घाति कर्मों का नाश कर; अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख व अनंत वीर्य से युक्त होकर जो परम औदारिक शरीर में स्थित हैं; ऐसे शुद्ध आत्मा ही अर्हन्त परमात्मा हैं और वे ध्यान करने योग्य हैं।

व्याख्या – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय – यह चार घातिया कर्म हैं। इनके नाश होने पर अनंत चतुष्टय की प्राप्ति होती है। ऐसे वीतरागी, सर्वज्ञ परमात्मा का शरीर भी रक्त, मांस आदि सप्त धातुओं से रहित, उत्तम परम औदारिक हो जाता है। जिसमें भूख-प्यास नहीं लगती। भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, खेद, पसीना, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और शोक आदि 18 दोष नहीं होते। समस्त विकारी भावों से रहित वे शुद्ध आत्मा ही अर्हन्त परमात्मा कहलाते हैं।

पंच परमेष्ठी में सर्वप्रथम उन्हें ही नमस्कार किया गया है। जैसे वे वर्तमान में शुद्ध हो गए हैं, वैसी ही दशा संसारियों को भी प्राप्त करना है; अतः वे ध्यान करने योग्य हैं।

इसप्रकार इस गाथा में कहा गया है कि अरहन्त परमेष्ठी के स्वरूप को भी हम ध्यान का विषय बना सकते हैं। यहाँ यह बात विशेष समझने की है कि शुद्धोपयोग में तो आत्मा ही ध्येय है और शुभ भाव में पंचपरमेष्ठी ध्येय हैं। जब स्वभाव में लीन न हों, तब शुभ भाव में पंचपरमेष्ठी ध्येय होते हैं। इसका फल सातिशय पुण्य है और शुद्धोपयोग का फल संवर निर्जरा है।

इसके पश्चात् 51वीं गाथा में सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

निश्चय ध्यान

परमशुद्धनिश्चयनय से शक्ति रूप से सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी होने से उपादेय हैं।

व्यक्ति विशेष की अपेक्षा से पाँचों परमेष्ठी उपादेय हैं। पाँचों परमेष्ठी में अरहंत-सिद्ध पूर्ण ज्ञान के धारी हैं तथा आचार्य, उपाध्याय व साधु अल्पज्ञ हैं। इस अपेक्षा देखें तो अरहंत व सिद्ध उपादेय हैं अथवा वे सभी उपादेय हैं, जो परम आनन्द का अनुभव कर रहें हैं।

आत्मा स्वयं ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। त्रिकाली ध्रुव आत्मा ज्ञेय और वर्तमान ज्ञान की पर्याय ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञान पर्याय की स्वज्ञेय में एकता है, यही एकता परम ध्यान है, निर्विकल्प ध्यान है, निर्विकल्प अनुभव है। संक्षेप में कहें तो परम ध्यान के काल में निजशुद्धात्मा ही उपादेय है।

उक्त निर्विकल्प अनुभव रूप परम ध्यान अरहंत व सिद्ध परमात्मा को तो निरन्तर होता ही है; साथ ही आशिंक रूप से चौथे, पाँचवे, सातवें और आगे के सभी गुणस्थानों में साधकों को भी होता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि निजशुद्धात्मद्रव्य को छोड़कर सभी द्रव्य हेय हैं।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, पृ-302, 324-325 के आधार पर

गाथा 51

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ।।51।।

पदविच्छेद – णट्ठ+अट्ठ-कम्मदेहो, लोय+अलोयस्स, पुरिस्+ आयारो, लोय-सिहरत्थो।

शब्दार्थ – णट्ठ = नाश किया है, अट्ठ = अष्ट (ज्ञानावरणादि), कम्मदेहो = कर्मरूप शरीर का, लोय = लोक, अलोयस्य = अलोक के, जाणओ = जानने, दट्ठा = देखनेवाले हैं, पुरिस = पुरुष के, आयारो = आकार में, लोय = लोक के, सिहरत्थो = अग्रभाग में स्थित हैं, अप्पा = आत्मा, सिध्दो = सिध्द परमात्मा हैं (उनका), झाएह = ध्यान करना चाहिए।

संदर्भ – ध्यान के ध्येय सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – आठ कर्मों का व शरीर का भी नाश करने वाले, लोक व अलोक के ज्ञाता-दृष्टा, अंतिम पुरुष के शरीर के आकार में लोक के अग्रभाग में स्थित आत्मा ही सिद्ध परमात्मा हैं। वे भी ध्यान करने योग्य हैं।

व्याख्या – आयु, नाम, वेद और गोत्र – ये चार अघातिया कर्म हैं। चार घातिया कर्मों का नाश करने वाले अरहंत परमेष्ठी ही कुछ समय बाद अघातिया कर्मों का भी नाश कर सिद्ध परमेष्ठी बनते हैं। अतः अरहंत परमेष्ठी की सारी विशेषताएँ तो इनमें होती ही हैं; साथ में अघाति कर्मों के नाश के कारण कुछ विशेषताएँ ऐसी होती हैं, जो उन्हें अरहंत परमेष्ठी से भिन्न करती हैं।

कुछ अरहंत परमेष्ठी का उपदेश होता है, पर सिद्धों के उपदेशादि क्रियायें नहीं होतीं। वे जन्म मरण से रहित सिद्ध शिला में अनंत काल तक विराजमान रहते हैं। परम औदारिक देह से भी रहित वे तो मात्र ज्ञान शरीरी ही हैं। पर्याय से भी 'शुद्ध' ऐसे सिद्ध भी ध्यान करने योग्य हैं।

इसके पश्चात् 52वीं गाथा में आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताया जा रहा है। ●

आचार्य परमेष्ठी
गाथा 52

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरियो मुणी झेओ।।52।।

पदविच्छेद – दंसण–णाण–पहाण, वीरिय–चारित्त–वर–तव+ आयारे।

शब्दार्थ – दंसण = दर्शन, णाण = ज्ञान, पहाणे = जिनमें मुख्यरूप से (प्रधान हैं, ऐसे), वीरिय = वीर्य, चारित्त = चारित्र, तव = तप, आयारे = आचार (इन पाँच आचारों में), वर = श्रेष्ठ, मुणी = जो मुनि, अप्पं = अपने को, च = तथा, परं = पर को, जुन्जई = युक्त करते हैं, सो = वे, आयरिओ = आचार्य परमेष्ठी, झेओ = ध्यान करने योग्य हैं।

संदर्भ – मोक्षमार्ग पर चलने वाले आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – दर्शनाचार, ज्ञानाचार की मुख्यता सहित वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार – इन पाँच आचारों में जो अपने को तथा पर को जोड़ता है, वे आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य हैं।

व्याख्या – जो साधु दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तप – इन पाँच आचारों में स्वयं लीन रहते हैं, उनका आचरण करते हैं और दूसरों से भी आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं, उनका सदा ध्यान करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन रूप परिणमन को **दर्शनाचार** कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के आचरण को **ज्ञानाचार** कहते हैं। वीतराग चारित्र भाव के आचरण को **चारित्राचार** कहते हैं। तप के आचरण को **तपाचार** कहते हैं। उक्त चारों आचारों का पालन करने में अपनी शक्ति को नहीं छिपाने को **वीर्याचार** कहते हैं अथवा चारों आचारों को टिकाने के लिए अपने (वीर्य) पुरुषार्थ को अन्दर में स्फुरायमान करना वीर्याचार है।

इसके पश्चात् 53वीं गाथा में उपाध्याय का स्वरूप बताया गया है।

•

उपाध्याय परमेष्ठी
गाथा 53

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स।।53।।

पदविच्छेद – रयणत्तय–जुत्तो, धम्म्+उवएसणे, जदिवर–वसहो।

शब्दार्थ – जो = जो, रयणत्तय = रत्नत्रय, जुत्तो = सहित, णिच्चं = सदा, धम्म = धर्म, उवएसणे = उपदेश करने में, णिरदो = लीन, वसहो = रहते हैं, सो = वह, अप्पा = आत्मा, जदिवर = यतियों में श्रेष्ठ, उवझाओ = उपाध्याय है, तस्स = उन्हें, णमो = नमस्कार हो।

संदर्भ – उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा है कि –

अर्थ – जो रत्नत्रय सहित हैं; सदा धर्मोपदेश देने में तत्पर रहते हैं, वह आत्मा साधुओं में श्रेष्ठ उपाध्याय है। उन्हें नमस्कार हो।

व्याख्या – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय के धारी उपाध्याय मुनिराजों में प्रधान होते हैं। निरंतर उपदेश देने में तत्पर रहते हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी भी ध्यान करने योग्य हैं; उन्हें नमस्कार हो।

इसके पश्चात् 54वीं गाथा में सामान्य साधुओं का स्वरूप बताया गया है।

•

हमें क्या करना चाहिए?

संसारी जीव का हृदय आकांक्षाओं से कलुषित रहता है, काम, भोगों से मूर्छित रहता है– ऐसे जीव भोग न भोगते हुए भी भाव से कर्म बांधता है। अतः बंध रहित होने के लिए दुर्ध्यान छोड़कर निर्ममत्व में स्थिर होकर प्रतिज्ञा करना चाहिए कि मैं अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ। मुझे आत्मा का ही अवलंबन है, अन्य सर्व का मैं त्याग करता हूँ।

–वृहद्द्रव्य संग्रह गाथा–57 की टीका के आधार से पृष्ठ 264 –265

साधु परमेष्ठी
गाथा 54

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।।54।।

पदविच्छेद – दंसण-णाण- समग्गं, णिच्च-सुध्दं।

शब्दार्थ – जो = जो, मुणी = मुनि, दंसण = दर्शन, णाण = ज्ञान, समग्गं = सहित, मोक्खस्स = मोक्ष के, मग्गं = मार्गरूप, णिच्च = सदा, सुध्दं = शुद्ध, चारित्तं = चारित्र को, साधयदि = साधते हैं, स = वे, साहू = साधु परमेष्ठी हैं, तस्स = उन्हें, णमो = नमस्कार हो।

संदर्भ – सभी साधुओं का सामान्य स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ – जो मुनि मोक्ष के मार्ग रूप दर्शन, ज्ञान सहित शुद्ध चारित्र को साधते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं। उन्हें नमस्कार हो।

व्याख्या – जो मुनि रत्नत्रय को धारण करते हैं, उन्हें साधु परमेष्ठी कहते हैं। रत्नत्रय के बिना कोई साधु हो ही नहीं सकता। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है।

चतुर्विध आराधना ही बाह्य-आभ्यन्तर मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ही चार प्रकार की आराधना है। जिसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना भी कहते हैं। सभी साधुओं को ये चारों आराधनायें मुख्य हैं; क्योंकि ये चारों आराधनायें आत्मरमणता रूप हैं। इसप्रकार की आत्मरमणतारूप साधना से ही दु:खों से मुक्त हुआ जा सकता है।

उक्त पाँचों परमेष्ठी व्यवहार ध्यान के विषय हैं। निश्चय ध्यान का स्वरूप आगमी 55वीं गाथा में बताया जा रहा है। ●

(d) शुक्ल ध्यान
गाथा 55

जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्तो हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं।।55।।

पदविच्छेद – किंचि-वि, णिरीह-वित्तो, तद्+आहु।

शब्दार्थ – य = और, जदा = जब, साहू = साधु, एयत्तं = एकाग्रता, लध्दूण = प्राप्त करके, जं = जो, किंचि = कुछ, वि = भी, चिन्ततो = चिन्तवन करता हुआ, णिरीह = नि:स्पृहवृत्तिवाला, वित्तो = रहित, हवे = होता है, तद् = तब, तं = उस कारण से, तस्स = उसे, णिच्चयं = निश्चय, झाणं = ध्यान, आहु = कहते हैं।

संदर्भ – निश्चय ध्यान का स्वरूप बताते हुआ इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ – ध्येय में एकत्व प्राप्त करके किसी भी पदार्थ का ध्यान करता हुआ साधु जब नि:स्पृहवृत्ति वाला होता है, तब उसका वह ध्यान निश्चय ध्यान कहलाता है।

व्याख्या – 'एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्' अर्थात् स्वरूप में एकाग्र होकर अन्य चिंताओं का निरोध ही ध्यान है।

'स्वरूप में एकाग्रता अर्थात् स्वरूप = अपने स्थायी (परमानेन्ट) ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा में, एकाग्रता = अपनेपन पूर्वक जानना। तात्पर्य यह है कि **अपने ज्ञान स्वभाव द्वारा अपने ज्ञान को ही अपनेपन से जानना, तन्मय होना ही ध्यान की प्रथम अनिवार्य शर्त है; आवश्यकता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। जब ज्ञान (आत्मा) स्व को लक्ष्य करते हुए स्व को ही ज्ञान का ज्ञेय बनाता है अर्थात् स्व द्वारा स्व को ही जानता है, तब वह स्थिति ही आत्मानुभूति की स्थिति है; निर्विकल्प स्थिति है। इसे ही आत्मा में एकाग्रता प्राप्त करना कहते हैं, निश्चय ध्यान कहते हैं।**

इच्छा रहित चिंतन के अनेक अर्थ हो सकते हैं। जैसे – किसी फल की कामना से रहित स्व-पर का चिंतन अर्थात् 'मेरे ध्यान का यह फल मुझे मिले' – इसप्रकार किसी भी प्रकार की इच्छा से रहित चलने वाला चिंतन अथवा बिना प्लानिंग के, बिना सोचे-विचारे सहज चलने वाला किसी भी विषय का चिंतन। इस चिंतन की ख़ास विशेषता यह होती है कि सोचे हुए विषय में मोह-राग-द्वेषादि भाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह चिंतन ध्यान कहलाएगा अन्यथा नहीं।

'प्राथमिक पुरुष की अपेक्षा से सविकल्प अवस्था में विषय-कषाय दूर करने के लिए और चित्त को स्थिर करने के लिए, सर्वप्रथम पंच नमस्कार मंत्र, पंच परमेष्ठी का स्वरूप आदि को भी ध्येय बनाया जाता है। (इसका कथन पूर्व गाथाओं में कर ही आए हैं) इसके पश्चात् जब अभ्यास से चित्त स्थिर होने लगता है, तब मात्र स्व शुद्ध-आत्मा ही ध्येय होता है। यह अवस्था निश्चय ध्यान अवस्था होती है।'[1]

जिन मुनियों को ज्ञानानन्ददशा विस्तृत हो गई है, उनको शुभविकल्प उठता है तो जैसा पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप बताया है, वैसा ही वे ध्याते हैं। अन्य किसी प्रकार का उन्हें विकल्प आता ही नहीं है; इसलिए उन्हें निश्चयध्यान कहा गया है अर्थात् अशुभभाव के अभाव की अपेक्षा उन्हें निश्चयध्यान कहा गया है। जब उन्हें शुभभाव आता है, तब पञ्च परमेष्ठी की ओर लक्ष्य जाता है, तब शुद्धज्ञान की मूर्ति एकस्वभाव का धारक भगवान आत्मा ध्येयरूप होता है अर्थात् आत्मा, आत्मा में स्थिर हो जाता है।[2]

1. वृहद्द्रव्यसंग्रह; गाथा 55 की टीका
2. वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, पृ-396

पं. टोडरमलजी की भाषा में कहें तो पहले स्व-पर चिंतन, फिर स्व चिंतन, फिर विकल्पात्मक चिंतन सहज समाप्त होकर सहज निर्विकल्प स्थिति होती है।

इस गाथा में शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' की चर्चा की गई है।

जिस ध्यान में ध्यान करने वाला पुरुष यद्यपि निज शुद्धात्मा का संवेदन छोड़कर बाह्य पदार्थों का चिंतन नहीं करता है, तो भी उसे जितने अंश में स्वरूप में स्थिरता नहीं है; उतने अंश में इच्छा के बिना विकल्प उत्पन्न होते हैं- इस कारण उस ध्यान को 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' कहते हैं।

यह ध्यान महाविदेह में होता है। इस काल में यहाँ नहीं होता। यह ध्यान उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में होता है। यह शुक्ल ध्यान आठवें गुणस्थान से आरंभ होकर क्षपक श्रेणी वालों में दसवें गुणस्थान तक और उपशम श्रेणी वालों के 11वें गुण स्थान तक होता है। इसप्रकार यह ध्यान 8वें से 11वें गुणस्थान तक होता है। इसके निमित्त से मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम होता है और एकत्व वितर्क नामक दूसरा शुक्ल ध्यान 12वें गुणस्थान में होता है। जब तक विकल्प उत्पन्न होते हैं, विचारों में प्रयत्न होता है; तब तक 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' शुक्ल ध्यान होता है और जब विचारों में प्रयत्न रुक जाता है, तब 'एकत्व वितर्क अवीचार' शुक्ल ध्यान होता है। उसके निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का क्षय होकर केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

यह शुक्लध्यान उत्तम संहनन वालों के ही होता है।

इसी निर्विकार स्वसंवेदनरूप परम ध्यान की चर्चा अगली 56वीं गाथा में की जा रही है।[1]

●

1. वृहदद्रव्य संग्रह, गाथा-48 की टीका पृष्ठ-230

गाथा 56

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।।56।।

पदविच्छेद – इणम्+एव।

शब्दार्थ – किम् = कुछ, वि = भी, मा = न करो, चिट्ठह = चेष्टा, मा = नहीं, जंपह = बोलो, मा = नहीं करो, चिन्तह = चिन्तवन, जेण = जिससे, अप्पा = आत्मा, अप्पम्मि = आत्मा में, रओ = लीन होकर, थिरो = स्थिर, होइ = होता है, इणमेव = यही, परं = उत्कृष्ट, झाणं = ध्यान, हवे = है।

संदर्भ – परम ध्यान का स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा जा रहा है कि –

अर्थ – हे साधु! कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिंतवन मत करो, जिससे आत्मा अपने में ही लीन होकर स्थिर हो जाए, यही उत्कृष्ट ध्यान है, परम ध्यान है।

व्याख्या – 55 वीं गाथा में साधुओं को संबोधित किया है। यहाँ उसके आगे की बात है, अतः मुनिश्री नेमिचंद्र इस गाथा में भी उन्हीं साधुओं को संबोधन कर रहे हैं।

हे साधुओं! विशेष मैं क्या कहूँ? हमें शरीर की कुछ भी क्रिया नहीं करनी है, वाणी से कुछ भी नहीं बोलना है, मन से भी कुछ नहीं सोचना है। जो सहज हो रहा है होने दो। जब आत्मा (ज्ञान) आत्मा में (ज्ञान में) स्थिर हो जाएगा अर्थात् ज्ञान द्वारा ज्ञान को ही जाना जाएगा, वही स्थिति परम ध्यान की स्थिति है। इसमें हमें कुछ करना नहीं है, यह सहज होगा (हमें तो कुछ करने का भी विकल्प त्यागना है)।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वास्तव में तो आत्मा

बोल ही नहीं सकता। यद्यपि शरीर की चेष्टा करना और बंद करना आत्मा के हाथ की बात नहीं है; फिर भी उपदेश की शैली में ऐसा ही कहा जाता है। वस्तुतः तो जब स्वरूप में उत्कृष्ट ध्यान का काल होता है, तब मन-वचन-काय के तरफ की चेष्टा नहीं होती है।

इसप्रकार इस गाथा में चारित्र दशा की बात है; उत्कृष्ट ध्यान, परम ध्यान, शुक्ल ध्यान की चर्चा है। शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद की चर्चा 55वीं गाथा में हो चुकी है। अब इस 56वीं गाथा में अन्य तीनों भेदों को समाहित कर लिया गया है; क्योंकि 'एकत्ववितर्कअविचार' आदि तीनों भेद आत्मलीनता रूप ही हैं। इनमें से एकत्ववितर्कअविचार शुक्ल ध्यान से चारघाति कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। शेष दो शुक्ल ध्यानों से अघातिया कर्मों का अभाव होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि परम ध्यान की स्थिति तक पहुँचने के व्यवस्थित क्रम, प्रक्रिया का वर्णन ही 47 से 56वीं गाथा तक किया गया है। संक्षेप में वह क्रम व प्रकिया निम्न प्रकार है –

सर्वप्रथम राग-द्वेष वाले विचारों से मुक्त होना है। उनसे बचने के लिए पंचपरमेष्ठी का आलम्बन लेना है, सहारा लेना है। उन्हें चिंतन का विषय बनाना है। उनके सामान्य स्वरूप का और विशेष स्वरूप का चिंतन मनन करना है।

जब मन बाह्य सर्व विकल्पों से हटकर पंचपरमेष्ठी में लगने लगे, तब वह विकल्प छोड़कर स्व आत्मा का चिंतन-मनन करना है। धीरे-धीरे स्वचिंतन भी समाप्त हो कर विकल्पात्मक स्थिति सहज, स्वतः निर्विकल्प स्थिति तक पहुँच जाएगी। ज्ञान, ज्ञान का चिंतन-मनन करते-करते सहज रूप से ज्ञान को जानने लगेगा, उसमें जमने-रमने लगेगा। यह ज्ञान द्वारा ज्ञान की अनुभूति, ज्ञान में एकाग्रता ही परम ध्यान है।

मन को विकल्प रहित करने की भी एक व्यवस्थित प्रक्रिया व क्रम है। सर्वप्रथम शारीरिक हलन-चलन, क्रियायें बंद करनी होगी।[1] जैसे - हम खाएंगे-पिएंगे, चलेंगें-फिरेंगे तो मन को उनके बारे में सोचना होगा। तभी वे क्रियायें हो पाएँगी, अन्यथा नहीं। शारीरिक क्रियायें बंद करते ही मन के अधिकांश काम समाप्त हो जाते हैं। फिर वचन क्रिया बंद करनी है। बोलना बंद करना है। हमारा मन दिन-रात यही सोचता रहता है कि उससे कैसे बात करें? उसे कैसे मनाऊँ? किसको कैसे अच्छा लगेगा? कैसे नहीं? शेष समय हमारा इस सब में ही चला जाता है। जब हमें कोई शारीरिक क्रिया नहीं करनी, कुछ बोलना नहीं, तो मन के अधिकांश विकल्प समाप्त हो गए। शेष बचे अल्प विकल्प जो बिना राग-द्वेष के, बिना इच्छा के, निःस्पृह वृत्ति से हो भी रहे हों, तो उससे आत्मा को कुछ फर्क नहीं पड़ता, दुःख नहीं होता तथा वे भी अंत में सहज शांत हो जाते हैं। समस्त विकल्प रहित यही अवस्था परम ध्यान अवस्था है, निर्विकल्प अवस्था है। इसकी चर्चा ही इस गाथा में की गयी है।

इसके पश्चात् 57वीं गाथा में उक्त परम ध्यान की साधना की पुनः प्रेरणा दी गयी है। ●

शांति का कारण

भाई! स्वद्रव्य का विचार हो या परद्रव्य का विचार हो; उसमें जितना अबुद्धिपुर्वक राग है, वह तो बंध का ही कारण है। वह शुक्ल ध्यान नहीं, शान्ति का कारण नहीं, भले ही उसकी 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' नाम से पहचान कराई गई है। उस भूमिका में ऐसे भेदों के विचार आते रहते हैं; परन्तु जितना स्वभाव में स्थिरता वर्तती है, उतना ध्यान है; वही शान्ति का कारण है। -वृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन, भाग-2 पृ.-340

टिपण्णी 1. चूँकि मिथ्यादृष्टि को कर्तृत्वबुद्धि होती है, अत: उसकी सारी क्रियायें पुरुषार्थ पूर्वक होती है तथा कर्तृत्वबुद्धिरहित सम्यग्दृष्टि के सहज होती है।

गाथा 57

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ।।57।।

पदविच्छेद – तव-सुद-वदवं, झाण-रह-धुरंधरो, तत्+तिय-णिरदा, तल्+लध्दीए।

शब्दार्थ – जम्हा = क्योंकि, तव = तप, सुद = श्रुत, वदवं = व्रत को धारण करनेवाला, चेदा = आत्मा, झाण = ध्यान, रह = रथ की, धुरंधरो = धुरा को धारण करनेवाला, हवे = होता है, तम्हा = इसलिए, तल् = उस (परम ध्यान की), लध्दीए = प्राप्ति के लिए, सदा = निरन्तर, तत् = इन, तिय = तीनों में लीन (तप, श्रुत और व्रत), होह = होओ।

संदर्भ – परम ध्यान की प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए और क्यों? यही बताते हुए इस गाथा में कहा है कि -

अर्थ – परम ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप, श्रुत और व्रत - इन तीनों में लीन हो जाओ; क्योंकि तप, श्रुत और व्रत को धारण करने वाला आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है।

व्याख्या – परमानन्द की प्राप्ति परम ध्यान में होती है। ये श्रुत (शास्त्र), व्रत, तप आदि ध्यान रूपी रथ की धुरी के समान हैं। जिसप्रकार रथ के पहियों के बीच में धुरी होती है, जो पहियों को सम्हाल कर रखती है व चलने में सहयोगी होती है; उसीप्रकार परम ध्यान की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन, मनन, व्रत व तप ध्यान में सहयोगी होते हैं।

इसके पश्चात् अंतिम 58वीं गाथा में ग्रंथकार नेमिचंद्र जी अपनी लघुता प्रदर्शित करते हैं। ●

6. प्रशस्ति

गाथा 58

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदुपुण्णा।
सोधयंतु तणुसत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं।।58।।

पदविच्छेद – दव्वसंगहम्+इणं, दोस-संचय-चुदा, सुदु-पुण्णा, तणुसत्त-धरेण, णेमिचंद-मुणिणा।

शब्दार्थ – तणुसत्त = अल्पज्ञान के, धरेण = धारक, णेमिचंद = नेमिचन्द्र, मुणिणा = मुनि ने, जं = जो, इणं = यह, दव्वसंगहं = द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ, भणियं = कहा है, दोस = दोषों के, संचय = समूह से, चुदा = रहित, सुदु = श्रुतज्ञान में, पुण्णा = पूर्ण ऐसे, मुणिणाहा = मुनियों के स्वामी (आचार्य), सोधयंतु = शुद्ध करें।

संदर्भ – ग्रंथ का नामकरण करते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ – मुझ अल्पज्ञान के धारी नेमिचंद्र मुनि के द्वारा यह द्रव्यसंग्रह लिखा गया है। जिसे श्रुतज्ञान से पूर्ण, दोषों के समूह से रहित मुनियों के स्वामी शुद्ध करें।

व्याख्या – ग्रंथ लिखते समय ग्रंथ के अंत में स्वयं का नाम व ग्रंथ का नाम लिखना चाहिए – इसप्रकार काव्य शास्त्रीय नियम के अनुसार मुनिराज नेमिचंद्र ने इस अंतिम प्रशस्ति में अपने नाम का उल्लेख भी किया है और ग्रंथ के नाम का भी।

प्रतीत होता है कि उस समय भी कुछ मुनिराज मुनि पद के योग्य नहीं थे, दोष सहित थे, अतः मुनि नेमिचंद्र स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि सदोष मुनिराज ग्रन्थ शुद्धि के योग्य नहीं।

यद्यपि वे स्वयं आत्मज्ञानी मुनिराज थे, विद्वान थे; फिर भी वे अपने आपको अल्पज्ञानी बता रहे हैं एवं उनका अपने से **विशेष ज्ञानी दोष रहित आचार्य मुनिराजों से** अनुरोध है कि यदि मुझसे अज्ञानता में कुछ भूल-चूक हो गयी हो तो इसे वे शुद्ध करें।

* * *

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुनिराज नेमिचन्द्रदेव ने 58 गाथाओं में पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्व, नौ पदार्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पंच परमेष्ठी और ध्यान का स्वरूप विस्तार से बताया है। जहाँ-जहाँ आवश्यकता थी, वहाँ-वहाँ नयों के द्वारा भी विषय को स्पष्ट किया गया है।

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है, कम्पलसरी है, अनिवार्य है; वे सभी विषय आपने इन गाथाओं में ले लिए हैं।

विशेष क्या कहें? यह पुस्तक 'गागर में सागर' का जीवंत प्रमाण है।

प्रत्येक मोक्षार्थी के लिए यह पठनीय है। जन-जन इसे आसानी से समझ सकें – इसी भावना से यह टीका लिखी गयी है। ●

विभन्न ग्रन्थों में उपलब्ध ध्यान का स्वरूप

सामान्य तौर पर समस्त चिंताओं के निरोध पूर्वक होने वाली एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। जैसा कि कहा भी है– 'एकाग्र चिंता निरोधो ध्यानं' अर्थात् समस्त चिंताओं का निषेध करते हुए चित्त का किसी एक विषय पर एकाग्र होना ही ध्यान है।

उक्त परिभाषाओं में दो मुख्य बिंदु हैं– (1) चित्त किसी एक विषय पर एकाग्र होना चाहिए और (2) चित्त में आकुलता-व्याकुलता नहीं होना चाहिए अर्थात् चित्त समस्त चिंताओं से रहित होना चाहिए। जैसा कि **तत्त्वानुशासन** में कहा है – 'एकाग्र ग्रहणं चात्र वैयग्र्य विनिवृत्तये। व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्र मुच्यते।' (59) अर्थात् इस ध्यान के लक्षण में जो एकाग्र का ग्रहण है, वह व्यग्रता के निषेध के लिए है। ज्ञान ही वस्तुत: व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है।

इसी तरह का भाव व्यक्त करते हुए **पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध** में कहा है – किसी एक विषय में निरंतर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है, और वह वास्तव में क्रम रूप ही है, अक्रम रूप नहीं।

संक्षेप में कहें तो 'जानना' ज्ञान की श्रेणी में आता है और 'जानते रहना' ध्यान कहलाता है।

व्यक्ति जिस समय जिस भाव का चिंतवन करता है, उस समय वह उस भाव के साथ तन्मय होता है। इसलिए जिस किसी भी देवता या मंत्र आदि को ध्याता है, उस समय वह अपने को वह ही प्रतीत होता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के देवताओं को ध्याकर साधक जन अनेक प्रकार के ऐहिक फलों की प्राप्ति कर लेते हैं।

अधिकांश दर्शनों में 'ध्यान' की यही परिभाषा बताई गई है और उसमें लौकिक ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति बताई गई है; किंतु जैनदर्शन में इसप्रकार के ध्यान को दुःख समाप्त करने वाले ध्यान की श्रेणी में न रख कर संसार की वृद्धि का कारण मानकर इसे आर्त ध्यान व रौद्र ध्यान की श्रेणी में रखा है। जैसा कि **तत्त्वार्थानुशासन** में कहा भी है- ऐहिक फल को चाहने वाले को जो ध्यान होता है; वह या तो आर्त ध्यान है या रौद्र ध्यान।

आराधनासार में तो यहाँ तक कहा है कि- जब तक ध्यानयुक्त योगी को किसी प्रकार का विकल्प उत्पन्न होता रहता है, तब तक उसे शून्य भी ध्यान नहीं है; या तो चिंता है या भावना है।

जैन दर्शन में दुःखों से मुक्त व सुखों की प्राप्ति कराने वाले ध्यान को निर्विकल्प व आत्मा की स्वयं की अनुभूति रूप बताया है। जैसा कि तिलोयपण्णति के निम्न कथन से स्पष्ट होता है- 'जिस जीव के ध्यान में यदि ज्ञान से निजात्मा का प्रतिभास नहीं है तो वह ध्यान नहीं है। उसे प्रमाद, मोह अथवा मूर्च्छा जानना चाहिए।'

धवला में भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है- 'इंद्रियों को विषयों से हटाकर मन को भी विषयों से दूर कर समाधि पूर्वक उस मन को अपनी आत्मा में लगावे।'

ज्ञानाचार में आत्म स्वरूप के सम्मुख होने पर ही ज्ञान की सिद्धि बताते हुए कहा है कि- जिस समय मुनि का चित्त क्षोभ रहित हो आत्मस्वरूप के सम्मुख होता है, उस काल ही ज्ञान की सिद्धि निर्विघ्न होती है।

तत्वानुशासन में निश्चयनय से ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि-

'चुँकि आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए, अपने-अपने आत्महेतु से ध्याता है; इसलिए अभिन्न षट्कारक रूप परिणत आत्मा ही निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान स्वरूप है।

सम्पूर्ण दुःखों से मुक्ति के कारणभूत उत्कृष्ट आत्मध्यान, शुक्लध्यान की परिभाषा देते हुए **तत्वार्थसूत्र** में कहा है कि- उत्तम संहनन वाले के एक विषय में चित्त वृत्ति का रोकना ध्यान है, जो अंर्त मुहूर्त तक होता है। ●

द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

कहे जीव अजीव जिन जिनवर वृषभ ने लोक में।
वे वंद्य सुरपति वृन्द मैं बंदन करूँ कर जोरकर।।1।।

जीव कर्त्ता भोक्ता अर अमूर्तिक उपयोगमय।
अर सिद्ध भवगत देहमित निजभाव से ही ऊर्ध्वगत।।2।।

जो सदा धारें श्वाँस इन्द्रिय आयु बल व्यवहार से।
वे जीव निश्चयजीव वे जिनके रहे नित चेतना।।3।।

उपयोग दो हैं ज्ञान-दर्शन चार दर्शन जानिये।
चक्षु अचक्षु अवधि केवल नाम से पहिचानिये।।4।।

ज्ञान आठ मतिश्रुतावधि ज्ञान भी कुज्ञान भी।
मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष भी।।5।।

सामान्यतः चऊ-आठ दर्शन-ज्ञान जिय लक्षण कहे।
व्यवहार से पर शुद्धनय से शुद्धदर्शन-ज्ञान हैं।।6।।

स्पर्श रस गंध वर्ण जिय में नहीं हैं परमार्थ से।
अतः जीव अमूर्त मूर्तिक बंध से व्यवहार से।।7।।

चिद्कर्मकर्त्ता नियत से द्रवकर्म का व्यवहार से।
शुधभाव का कर्त्ता कहा है आतमा परमार्थ से।।8।।

कर्मफल सुख–दुक्ख भोगे जीव नयव्यवहार से।
किन्तु चेतनभाव को भोगे सदा परमार्थ से।।9।।

समुद्घात विन तनमापमय संकोच से विस्तार से।
व्यवहार से यह जीव असंख्य प्रदेशमय परमार्थ से।।10।।

भूजलानलवनस्पति अर वायु थावर जीव हैं।
दो इन्द्रियों से पाँच तक शंखादि सब त्रस जीव हैं।।11।।

पंचेन्द्रियी संज्ञी–असंज्ञी शेष सब असंज्ञि ही हैं।
एकेन्द्रियी हैं सूक्ष्म–बादर पर्याप्तकेतर सभी हैं।।12।।

भवलीन जिय विध चतुर्दश गुणथान मार्गणथान से।
अशुद्धनय से कहे हैं पर शुद्धनय से शुद्ध हैं।।13।।

उत्पादव्ययसंयुक्त अन्तिम देह से कुछ न्यून हैं।
लोकाग्रथित निष्कर्म शाश्वत अष्टगुणमय सिद्ध हैं।।14।।

मूर्त पुद्गल किन्तु धर्माधर्मनभ अर काल भी।
मूर्तिक नहीं हैं तथापि ये सभी द्रव्य अजीव हैं।।15।।

थूल सूक्षम बंध तम संस्थान आतप भेद अर।
उद्योत छाया शब्द पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।।16।।

स्वयं चलती मीन को जल निमित्त होता जिसतरह।
चलते हुए जिय–पुद्गलों को धरमदरव उसीतरह।।17।।

छाया निमित्त ज्यों गमनपूर्वक स्वयं ठहरे पथिक को।
अधरम त्यों ठहरने में निमित्त पुद्गल–जीव को।।18।।

आकाश वह जीवादि को अवकाश देने योग्य जो।
आकाश के दो भेद हैं जो लोक और अलोक हैं।।19।।

काल धर्माधर्म जिय पुद्गल रहें जिस क्षेत्र में।
वह क्षेत्र ही बस लोक है अवशेष क्षेत्र अलोक है।।20।।

परीवर्तनरूप परिणामादि लक्षित काल जो।
व्यवहार वह परमार्थ तो बस वर्तनामय जानिये।।21।।

जानलो इस लोक के जो एक–एक प्रदेश पर।
रत्नराशिवत् जड़े वे असंख्य कालाणु दरव।।22।।

इसतरह ये छह दरब जो जीव और अजीवमय।
कालबिन बाकी दरव ही पंच अस्तिकाय हैं।।23।।

कायवत बहुप्रदेशी हैं इसलिए तो काय हैं।
अस्तित्वमय हैं इसलिए अस्ति कहा जिनदेव ने।।24।।

हैं अनंत प्रदेश नभ जिय धर्म अधर्म असंख्य हैं।
सब पुद्गलों के त्रिविध एवं काल का बस एक है।।25।।

यद्यपि पुद्गल अणु है मात्र एक प्रदेशमय।
पर बहुप्रदेशी कहें जिन स्कन्ध के उपचार से।।26।।

एक अणु जितनी जगह घेरे प्रदेश कहें उसे।
किन्तु एक प्रदेश में ही अनेक परमाणु रहें।।27।।

बंध आस्रव पुण्य-पापरु मोक्ष संवर निर्जरा।
विशेष जीव अजीव के संक्षेप में उनको कहें।।28।।

कर्म आना द्रव्य आस्रव जीव के जिस भाव से।
हो कर्म आस्रव भाव वे ही भाव आस्रव जानिये।।29।।

मिथ्यात्व-अविरति पाँच-पाँचरु पंचदश परमाद हैं।
त्रय योग चार कषाय ये सब आस्रवों के भेद हैं।।30।।

ज्ञानावरण आदिक करम के योग्य पुद्गल आगमन।
है द्रव्य आस्रव विविधविध जो कहा जिनवर देव ने।।31।।

जिस भाव से हो कर्मबंधन भावबंध है भाव वह।
द्रवबंध बंधन प्रदेशों का आतमा अर कर्म के।।32।।

बंध चार प्रकार प्रकृति प्रदेश थिति अनुभाग ये।
योग से प्रकृति प्रदेश अनुभाग थिती कषाय से।।33।।

कर्म रुकना द्रव्यसंवर और उसके हेतु जो।
शुद्धातमा के भाव वे ही भावसंवर जानिये।।34।।

व्रत समिति गुप्ती धर्म परिषहजय तथा अनुप्रेक्षा।
चारित्र भेद अनेक वे सब भावसंवररूप हैं।।35।।

द्रवनिर्जरा है कर्म झरना और उसके हेतु जो।
तपरूप निर्मल भाव वे ही भावनिर्जर जानिये।।36।।

भावमुक्ती कर्मक्षय के हेतु निर्मलभाव हैं।
अर द्रव्यमुक्ती कर्मरज से मुक्त होना जानिये।।37।।

शुभाशुभपरिणामयुत जिय पुण-पाप सातावेदनी।
शुभ आयु नामरु गोत्र पुण अवशेष तो सब पाप हैं।।38।।

सम्यग्दरशसद्ज्ञानचारित्र मुक्तिमग व्यवहार से।
इन तीन मय शुद्धातमा है मुक्तिमग परमार्थ से।।39।।

आतमा से भिन्न द्रव्यों में रहें न रतनत्रय।
बस इसलिए ही रतनत्रयमय आतमा ही मुक्तिमग।।40।।

जीवादि का श्रद्धान समकित जो कि आत्मस्वरूप है।
और दुरभिनिवेश विरहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।41।।

संशयविमोहविभरमविरहित स्वपर को जो जानता।
साकार सम्यग्ज्ञान है वह है अनेकप्रकार का।।42।।

अर्थग्राहक निर्विकल्पक और है अविशेष जो।
सामान्य अवलोकन करे जो उसे दर्शन जानना।।43।।

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।
पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये।।44।।

अशुभ से विनिवृत्त हो व्रत समितिगुप्तिरूप में।
शुभभावमय हो प्रवृत्ती व्यवहार चारित्र जिन कहें।।45।।

बाह्य अंतर क्रिया के अवरोध से जो भाव हों।
संसारनाशक भाव वे परमार्थ चारित्र जानिये।।46।।

अरे दोनों मुक्तिमग बस ध्यान में ही प्राप्त हो।
इसलिए चित्तप्रसन्न से नित करो ध्यानाभ्यास तुम।।47।।

यदि कामना है निर्विकल्पक ध्यान में हो चित्त थिर।
तो मोह-राग-द्वेष इष्टानिष्ट में तुम ना करो।।48।।

परमेष्ठीवाचक एक दो छह चार सोलह पाँच अर।
पैंतीस अक्षर जपो नित अर अन्य गुरु उपदेश से।।49।।

नाशकर चऊ घाति दर्शन ज्ञान सुख अर वीर्यमय।
शुभदेहथित अरिहंत जिन का नित्यप्रति चिन्तन करो।।50।।

लोकाग्रथित निर्देह लोकालोक ज्ञायक आतमा।
अठकर्मनाशक सिद्धप्रभु का ध्यान तुम नित ही करो।।51।।

ज्ञान-दर्शन-वीर्य-तप एवं चरित्राचार में।
जो जोड़ते हैं स्वपर को ध्यावो उन्हीं आचार्य को।।52।।

रतनत्रय युत नित निरत जो धर्म के उपदेश में।
सब साधुजन में श्रेष्ठ श्री उवझाय को वंदन करें।।53।।

जो ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र की आराधना।
कर मोक्षमारग में खड़े उन साधुओं को हो नमन।।54।।

निजध्येय में एकत्व निष्पृहवृत्ति धारक साधुजन।
चिन्तन करें जिस किसी का भी सभी निश्चय ध्यान है।।55।।

बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो।
उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो।।56।।

व्रती तपसी श्रुताभ्यासी ध्यान में हों धुरंन्धर।
निजध्यान करने के लिए तुम करो इनकी साधना।।57।।

अल्प श्रुतधर नेमिचंद मुनि द्रव्यसंग्रह संग्रही।
अब दोषविरहित पूर्णश्रुतधर साधु संशोधन करें।।58।।

ईसवी सन् दो सहस दो अर चतुर्दश दिसम्बर।
को द्रव्यसंग्रह शास्त्र का पूरण हुआ अनुवाद यह।। ●

मन को एकाग्र करना ध्यान है। वैसे तो किसी न किसी विषय में हर समय ही मन अटका रहने के कारण व्यक्ति को कोई न कोई ध्यान बना ही रहता है, परंतु दुःखदायक होने के कारण वह चिंतन ध्यान नाम नहीं पाता है। व्यक्ति जिस समय जिस भाव का चिंतन करता है, उस समय वह उस भाव के साथ तन्मय होता है। इसलिए व्यक्ति जिस किसी का ध्यान करता है, चिंतन करता है; तब वह अपने को वैसा ही महसूस करता है। जैसे- जो अशुद्धात्मा का ध्यान करता है, वह अशुद्धता को प्राप्त होता है और जो शुद्धात्मा का ध्यान करता है, वह शुद्धता को प्राप्त होता है। शुद्धात्मा को जानना व जानते रहना ही परम ध्यान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन मतानुसार संपूर्ण दुःखों से मुक्ति का परिपूर्ण अविनाशी, अनंत सुख प्राप्ति का और भक्त से भगवान बनने का एक ही उपाय है- 'आत्मध्यान'।

लेखिका की अन्य कृतियाँ

01. जैन नर्सरी (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
02. जैन के.जी. भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
03. जैन के.जी. भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
04. जैन के.जी. भाग-3 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
50-06. जैन कलर बुक भाग 1-2 (ड्राइंग बुक)
07-10. जैन जी.के. भाग-1 से 4 तक (हिन्दी, अंग्रेजी)
11-16. जैन जी.के. भाग-5 से 10 तक (हिन्दी)
17-18. चलो पाठशाला, चलो सिनेमा भाग 1-2
19. सीखें हम गाते-गाते
20. शब्दों की रेल
21-23. आगम प्रवेश भाग-1,2,3
24. मुझमें भी एक दशानन रहता है
25. संस्कार का चमत्कार (दादी की कहानी)
26. बढ़ते कदम
17. राम कहानी
28. विचार के पत्र : विकार के नाम
29. तलाश : सुख की
30. मुक्ति की युक्ति
31. एक संभावना यह भी
32. सत्ता का सुख
33. बालबोध प्रशिक्षण गाईड
34. प्रवेशिका प्रशिक्षण गाईड
35. अर्चना गाईड
36. नयचक्र गाईड (अध्यात्म के नय)
37. आगम के नय
38. अनुपम खोज (सप्तभंगी टीका)
39. उपादान निमित्त दोहा (टीका)
40. परीक्षामुख प्रवेशिका (टीका)
41. प्रमाणज्ञान
42. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
43. आत्मानुभूति कैसे?
44. जैनदर्शनसार
45. आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (लघु शोध)
46. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबंध)
47. मिनी समयसार
48-49. समयसार प्रश्नोत्तरमाला भाग-1, 2
50-52. परमागम प्रवेशिका भाग-1, 2, 3/4
53-54. मीडियम समयसार : भाग-1, 2
55. आनंद एक : रूप अनेक
56. बढ़ते कदम : परमागम की ओर
57. द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका

जैन गेम्स

1. नो टाइम पास
2. हमारी लाईफ
3. लगे रहो जीवराज
4. चौबीसी (Poster)
5. Maze to Moksh

E-books

01. मिनी समयसार भाग -1
02. मिनी समयसार भाग -2
03. परमागम प्रवेशिका भाग - 1
04. परमागम प्रवेशिका भाग - 2
05. परमागम प्रवेशिका भाग - 3
06. परमागम प्रवेशिका भाग - 4
07. मीडियम समयसार भाग - 1
08. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
09. समयसार प्रश्नोत्तरमाला : भाग-1
10. आनंद एक : रूप अनेक
11. बढ़ते कदम : परमागम की ओर